भिक्षु-विचार ग्रन्थावली

ग्रन्थ : १

भि -विचार दर्शन

(तेरापंथ दर्शन)

मुनि श्री नथमल

श्री तेरापंथ द्विशताब्दी-समारोह के
अभिनन्दन में

प्रकाशक :

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट

कलकत्ता

●

प्रथमावृत्ति :

१९६०

●

प्रति संख्या :

१५००

●

पृष्ठांक :

२१४

●

मूल्य :

३ रु० ५० न० पै०

●

मुद्रक :

नालन्दा प्रिंटर्स

१७६, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट

कलकत्ता-७

प्रकाशकीय

तेरापंथ के आदि-ऋषि का वास्तविक नाम भीखन है। 'भिखु' उसका लघुरूप है। इसी नाम से वे अनेक कृतियों में सम्बोधित किये गये हैं। 'भिखु' शब्द से उनका गुण निष्पन्न संस्कृत सम्बोधन 'भिक्षु' हुआ। इस ग्रन्थ में ऋषि भीखनजी के विचारों की पृष्ठभूमि और हार्द का संक्षिप्त, पर अत्यन्त मार्मिक विश्लेषण है।

इस महान् ऋषि का जन्म मारवाड़ के कंटालिया ग्राम में सं० १७८३ में हुआ। सं० १८०८ में आचार्य रुघनाथ जी के सम्प्रदाय में मुनि हुए। ८ वर्ष उनके साथ रहने के पश्चात् सं० १८१७ में उनसे अलग हुए और आषाढ़ी पूर्णिमा सं० १८१७ के दिन मेवाड़ के केलवा गाँव में स्वयं नई दीक्षा ली। यही दिन तेरापन्थ के शिलान्यास का दिन कहा जा सकता है। आगामी आषाढ़ शुक्ल १४, २०१७ के दिन तेरापन्थ की संस्थापना के दो सौ वर्ष पूरे होंगे। यह ग्रन्थ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में प्रकाशित किया जा रहा है।

धर्म को अथाह जल-प्रवाह की उपमा दी जा सकती है जो अपने अजस्र प्रवाह में रजकणों के समूह को समेटता चला जाता है। विकास के नाम पर कहिए अथवा पुरुषार्थ की हीनता के कारण कहिए—कालान्तर में धर्म-जैसी स्वच्छ चीज भी धूमिल हो जाती है।

ऋषि एक ऐसा महापुरुष था जिसने आगम के पृष्ठों पर एक गम्भीर दृष्टि डाली और जैन धर्म के स्वच्छ पटल पर बुरी तरह से आच्छादित रजकणों को दूर करने का भगीरथ प्रयत्न किया। क्रांति की प्रचण्ड किरणें बिखरीं वे असह्य हुईं पर उन्होंने तिमिर में से ज्योतिर्मय पथ प्रशस्त कर दिया।

'आगम-उत्थापक' उसका विरद हुआ और 'दया दान का उच्छेदक' पुष्प जो उसपर चढ़ाये जाने लगे। 'शिरच्छेद' ही उसके लिए योग्य उपहार समझा जाता था। पर वह लौहपुरुष इन सबके बीच अपनी साधना में अडिग रहा। बुराइयों पर गहरी चोटें उसने कीं। शुद्ध ज्ञान और श्रद्धा का आलोक उसने प्रदीप्त किया। 'आत्म-साधना करे वही साधु'—इस सूक्त को उसने जीवन-प्रदीप के रूप में स्थिर किया।

वह एक द्रष्टा था, जिसने दूर तक देखा और तह तक देखा। दार्शनिक के रूप में वह इतना सुगम, सरल और स्पष्ट है कि वही अपना एक उदाहरण

है। गहराई में वह उतना ही गम्भीर है, जितना कि कोई भी बड़ा से बड़ा दार्शनिक।

उसकी जीवन्त वाणी में अहिंसा का अमृत भरा हुआ है। 'छोटे बड़े सबकी आत्मा को अपने समान समझो', 'अपने सुख के लिये क्षुद्रों के जीवन की कीमत को नगण्य मत समझो' इस घोष का उद्घोषक इन कई शताब्दियों में वैसा दूसरा नहीं हुआ।

उसके विचारों के कलेवर में आज पंख निकल चले हैं। गगन-विहारी पक्षी की तरह उसके विचार चिन्तक-जगत के क्षितिज में उड़ान लेने लगे हैं। उसके विचारों का सत्य आज जगत के प्रमुख विचारकों की विचारधारा में अनायास अंकुरित हो रहा है।

इस छोटे से ग्रन्थ में तलस्पर्शी प्रकाश है ऐसे ही महापुरुष के जीवन-वृत्तों के आधार में रही हुई विचारधारा और उत्क्रांतक वाणी पर।

लेखक मुनि जितने गूढ़ हैं उतनी ही गूढ़ता तक पहुँच भी पाये हैं। उन्होंने भीखनजी के विचारों का मंथन कर उसका नवनीत प्रस्तुत कर दिया है। गागर में सागर भरने का प्रयत्न किया है। 'आचार्य सन्त भीखनजी' के बाद यह दूसरी पुस्तक है जो इतना सुन्दर प्रकाश उनके विचारों पर डालती है। आचार्य श्री भीखनजी को समझने में यह पुस्तक असाधारण रूप में सहायक हो पायेगी, ऐसी उम्मीद है।

द्विशताब्दी समारोह व्यवस्था समिति
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता
दिनांक ४ मार्च, १९६०

श्रीचन्द रामपुरिया
व्यवस्थापक
साहित्य विभाग

आशीर्वचन

'तेरापंथ द्विशताब्दी के अभिनन्दन में साहित्य की सुन्दर साधना होनी चाहिए'— इस निर्णय के अनुसार जैन आगम-साहित्य की सजावट में हमारा साधु संघ जुट गया। मूल आगमों का हिन्दी अनुवाद, टिप्पणियाँ, तुलनात्मक टिप्पण, प्राकृत-शब्दकोष आदि विविध प्रकार के कार्य चालू हैं। इस अवसर पर 'तेरापंथ का इतिहास', 'तेरापंथ के आचार्यों के जीवन-चरित', 'साधु-साध्वियों की जीवनियाँ', आदि-आदि विषयक अनेक प्रकार के साहित्य का सृजन भी हो रहा है।

बहुत दिनों से मेरा एक चिन्तन चल रहा था कि तेरापंथ द्विशताब्दी के अवसर पर 'आचार्य सन्त भीखन जी' के जीवन का दार्शनिक रूप जनता के समक्ष आना चाहिए। मैंने यह विचार शिष्य मुनि नथमल जी से कहा। उन्होंने उसी दिन से इसकी रूप-रेखा अपने मन में तैयार कर ली और कलकत्ता चातुर्मास के अन्तिम दिनों में मेरी इस भावना को मूर्त्तरूप देते हुए एक ग्रन्थ लिख डाला।

ग्रन्थ का नाम 'भिक्षु-विचार दर्शन (तेरापंथ-दर्शन)' है। इसके सात अध्याय हैं—

१—व्यक्तित्व की झाँकी

२—धर्म-क्रान्ति के बीज

३—साध्य-साधन के विविध पहलू

४—चिन्तन के निष्कर्ष

५—क्षीर-नीर

६—संघ व्यवस्था

७—अनुभूति के महान् स्रोत

इन सातों अध्यायों में स्वामीजी के सिद्धान्तों, मन्तव्यों, विचारों एवं निष्कर्षों का खूब गहराई से प्रतिपादन किया गया है। लेखक की भाषा-शैली गम्भीर एवं दार्शनिक है फिर भी स्वामीजी के विविध जीवन-प्रसंगों का तुलनात्मक चिन्तन एवं जीवन के व्यावहारिक पक्ष को जिस सरलता से रखा है उससे भाषा की जटिलता सुगमता में परिणत हो गई है।

वास्तव में ही यह ग्रन्थ तेरापंथ-साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखेगा। मैं समझता हूँ कि ठीक मेरी भावना के अनुरूप ही यह ग्रन्थ तैयार हुआ है। मेरा विश्वास है कि जहाँ यह बौद्धिक लोगों की ज्ञान-पिपासा को शांत करेगा, वहाँ स्वामी जी के सिद्धान्तों को सही समझने में भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

अन्त में, लेखक की लेखन-शक्ति, चिन्तन-शक्ति और मनन-शक्ति उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रहे, यह मैं अन्तःकरण से कामना करता हूँ।

राजलदेसर (राजस्थान)
वि० सं० २०१६ फा० कृष्ण १४

आचार्य तुलसी

भूमिका

काव्य-रचना, व्याकरण, न्यायशास्त्र, सिद्धान्त, बीज-शास्त्र, ज्योतिष-विद्या में निपुण अनेक आचार्य होते हैं, किन्तु चारित्र में निपुण हों वैसे आचार्य विरले ही होते हैं[1] ।

आचार्य भिक्षु उन विरले आचार्यों में थे । उन्होंने चारित्र-शुद्धि को उतना महत्त्व दिया जितना देना चाहिए । ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों की आराधना ही मुक्ति का मार्ग है । परन्तु परिस्थितिवश किसी एक को प्रधान और दूसरों को गौण करने की स्थिति आ जाती है । आचार्य भिक्षु ने ऐसा नहीं किया । वे जीवन भर ज्ञान की आराधना में निरत रहे और उनका चारित्रशुद्धि का घोष ज्ञान-शून्य नहीं था ।

जैन परम्परा में चारित्रिक शिथिलता का पहला सूत्रपात आर्य सुहस्ती के समय में होता है । उसका कारण राज्याश्रय बना ।

सम्राट सम्प्रति के संकेतानुसार सब लोग साधुओं को यथेष्ट भिक्षा देने लगे । भिक्षा की सुगमता देख महागिरि ने आर्य सुहस्ती से पूछा । यथेष्ट उत्तर न मिलने पर उन्होंने आर्य सुहस्ती से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया[2] ।

धर्मानन्द कोसम्बी ने बौद्ध धर्म के पतन का एक कारण राज्याश्रय माना है । "श्रमण संस्कृति में जो दोष आए उसका मुख्य कारण, उसे राज्याश्रय मिलना रहा होगा । बुद्ध ने अपनी छोटी जमींदारी छोड़कर सन्यास लिया और पैंतालिस वर्ष तक धर्म-प्रचार का काम किया । इस काल में महाराजों से उनका सम्बन्ध क्वचित् ही रहा ।

"बिंबसार राजा ने बुद्ध का बड़ा सम्मान किया और उसे वेणुवन दान में दिया, आदि जो कथाएँ विनय-महावग्ग में हैं, वे बिल्कुल कल्पित जान पड़ती हैं । कारण, सुत्तपिटक में उनके लिए कोई आधार नहीं मिलता । बिंबसार

१-सूक्ति मुक्तावली ५० :

केचित्काव्यकलाकलापकुशलाः केचिच्च सल्लक्षणाः,
केचित्तर्कवितर्कतत्त्व निपुणाः केचिच्च सैद्धान्तिकाः ।
केचिन्निस्तुषबीजशास्त्रनिरता ज्योतिर्विदो भूरयः,
चारित्रैकविलासवासितमनाः स्वल्पाः पुनः सूरयः ॥

२-बृहत्कल्प चूर्णि ७०१

राजा उदार था और वह सब पन्थों के श्रमणों से समान व्यवहार करता था। इस दशा में उसने यदि बुद्ध तथा उनके संघ को अपने वेणुवन में रहने की अनुमति दी हो, तो इसमें कोई विशेषता नहीं[1]।"

निशीथ सूत्र का पाठ भी शायद इसी दिशा की ओर संकेत करता है[2]।

पंडित बेचरदासजी का मत है—दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर और उनके उत्तराधिकारी जम्बूस्वामी तक ही जैन मुनियों का यथोपदिष्ट आचार रहा, उसके बाद ही जान पड़ता है कि बुद्ध देव के अतिशय लोकप्रिय मध्यम मार्ग का उन पर प्रभाव पड़ने लगा। शुरू-शुरू में तो शायद जैन-धर्म के प्रसार की भावना से ही वे बौद्ध साधुओं जैसी आचार की छूट लेते होंगे, परन्तु पीछे उसका उन्हें अभ्यास हो गया। इस तरह एक सदभिप्राय से भी उक्त शिथिलता बढ़ती गई जो आगे चलकर चैत्यवास में परिणत हो गई[3]। नाथूराम प्रेमी ने भी राजाओं द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा को चारित्र-शिथिलता का एक कारण माना है। उन्होंने लिखा है—"यह कहना तो कठिन है कि किसी समय सबके सब साधु आगमोपदिष्ट आचारों का पूर्ण रूप से पालन करते होंगे, फिर भी शुरू-शुरू में दोनों ही शाखाओं के साधुओं में आगमोक्त आचारों के पालन का अधिक से अधिक आग्रह था। परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, साधु-संख्या बढ़ती गई और भिन्न-भिन्न आचार-विचार वाले विभिन्न देशों में फैलती गई, धनियों और राजाओं द्वारा पूजा प्रतिष्ठा पाती गई त्यों-त्यों उसमें शिथिलता आती गई और दोनों ही सम्प्रदायों में शिथिलाचारी साधुओं की संख्या बढ़ती गई[4]।"

उक्त कारणों के अतिरिक्त और भी अनेक कारण रहे हैं जैसे:—

(१) दुर्भिक्ष

(२) लोक-संग्रह

(३) मन्त्र, तन्त्र, शक्ति-प्रयोग आदि

१-भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृ० ६५-६६

२-निशीथ उद्देशक ४ :

जे भिक्खू—१-३ रायं अत्तीकरेइ, अच्चीकरेइ,
अत्थीकरेइ ४-६ रायारक्खियं, ७-९ नगरारक्खियं,
१०-१२ निगमारक्खियं, १३-१५ देसारक्खियं,
१६-१८ सव्वारक्खियं अत्तीकरेइ, अच्चीकरेइ, अत्थी करेइ

३-जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३५१

४-जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३५१

वीर निर्वाण ८८२ (विक्रम सं० ४१२) में चैत्यवास की स्थापना हुई[1]। चारित्र-शिथिलता का प्रारम्भ पहले ही हो चुका था किन्तु उसकी एक व्यवस्थित स्थापना इस ६ वीं शती में हुई। उस समय श्वेताम्बर मुनिगण दो मार्गों में विभक्त हो गये। (१) चैत्यवासी (२) और सुविहित या संविग्न-पाक्षिक। हरिभद्र सूरि ने चैत्यवासियों के शिथिलचार का वर्णन 'सम्बोध प्रकरण' में किया है :—

"ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं, पूजा करने का आरम्भ करते हैं, देव-द्रव्य का उपभोग करते हैं, जिन-मन्दिर और शालायें चिनवाते हैं, रङ्ग-विरङ्गे सुगन्धित धूपवासित वस्त्र पहनते हैं, बिना नाथ के बैलों के सदृश स्त्रियों के आगे गाते हैं, आर्यिकाओं द्वारा लाए गए पदार्थ खाते हैं और तरह-तरह के उपकरण रखते हैं।

"जल, फल, फूल आदि सचित्त द्रव्यों का उपभोग करते हैं, दो तीन बार भोजन करते और ताम्बूल लवंगादि भी खाते हैं।

"ये मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते हैं, भभूत भी देते हैं। ज्योनारों में मिष्ट आहार प्राप्त करते हैं, आहार के लिए खुशामद करते और पूछने पर भी सत्य धर्म नहीं बतलाते।

"स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी दूसरों से आलोचना प्रतिक्रमण कराते हैं। स्नान करते, तेल लगाते, शृंगार करते और इत्र—फुलेल का उपयोग करते हैं।

"अपने हीनाचारी मृतक गुरुओं की दाह-भूमि पर स्तूप बनवाते हैं। स्त्रियों के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियाँ उनके गुणों के गीत गाती हैं।

"सारी रात सोते, क्रय-विक्रय करते और प्रवचन के बहाने विकथाएँ किया करते हैं।

"चेला बनाने के लिए छोटे-छोटे बच्चों को खरीदते, भोले लोगों को ठगते, और जिन-प्रतिमाओं को भी बेचते-खरीदते हैं।

"उच्चाटन करते और वैद्यक, यंत्र, मन्त्र, गंडा, तावीज आदि में कुशल होते हैं।

"ये सुविहित साधुओं के पास जाते हुए श्रावकों को रोकते हैं, शाप देने का भय दिखाते हैं, परस्पर विरोध रखते हैं और चेलों के लिए एक दूसरे से लड़ मरते हैं।

जो लोग इन भ्रष्ट-चरित्रों को भी मुनि मानते थे, उनको लक्ष्य करके श्री हरिभद्रसूरि कहते हैं—"कुछ नासमझ लोग कहते हैं कि यह भी तीर्थंकरों का

१-धर्म सागर कृत पट्टावली (वीरात् ८८२) चैत्यस्थितिः

वेष है, इसे नमस्कार करना चाहिए। अहो धिक्कार हो इन्हें। मैं अपने सिर-शूल की पुकार किसके आगे जाकर करूँ[१]?"

बौद्ध भिक्षुओं में चैत्यवास जैसी परिग्रही परम्परा का प्रारम्भ सम्राट अशोक के समय से होता है—यद्यपि महात्मा बुद्ध अपने लिए बनाए गए विहार में रहते थे। किन्तु अशोक से पहले भिक्षु-संघ की जो स्थिति थी वह बाद में नहीं रही—"अशोक के बाद यह स्थिति बदली। बौद्ध-धर्म राज्याश्रित बना। राज्याश्रय प्राप्त करने का प्रयत्न प्रथमतः बौद्धों ने किया या जैनों ने, यह नहीं कहा जा सकता। यदि यह सच माना जाए की चन्द्रगुप्त मौर्य जैन था तो कहना पड़ेगा कि राज्याश्रय प्राप्त करने का प्रथम प्रयत्न जैनों ने किया। पर यह प्रश्न बहुत महत्त्व का नहीं है। इतना सच है कि अशोक के बाद बौद्ध और जैन दोनों ही पंथों ने राज्याश्रय प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

"अशोक के शिलालेखों में इसके लिए कोई आधार नहीं मिलता कि अशोक को बुद्धोपासक बनाने का किसी बौद्ध साधु ने प्रयत्न किया। पर यह बात भी विशेष महत्त्व की नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध बनने के

१-संबोध प्रकरण :

चेइयमढाइवासं पूयारंभाइ निच्चवासित्तं।
देवाइदव्वभोगं जिणहरसालाइकरणं च ॥ ६१ ॥
वत्थाइं विविहवण्णाइं अइसियसद्दाइं धूववासाइं।
परिहिज्जइ जत्थ गणे तं गच्छं मूलगुणमुक्कं ॥ ४६ ॥
अन्नत्थियवसहा इव पुरओ गायंति जत्थ महिलाणं।
जत्थ जयारमयारं भणंति आलं सयं दिंति ॥ ४९ ॥
संनिहि माहाकम्मं जलफलकुसुमाइ सव्व सच्चित्तं।
निच्चं दुतिवारं भोयण विगइलवंगाइ तंबोलं ॥ ५७ ॥
नरयगइहेउ जोइस निमित्ततेगिच्छमंत जोगाइं।
मिच्छत्तरायसेवं नीयाण वि पावसाहिज्जं ॥ ६३ ॥
मयकिच्च जिणपूयापरूवणं मयधणाणं जिणदाणे।
गिहिपुरओ अंगाइपवयणकहणं धणट्ठाए ॥ ६८ ॥
वत्थोवगरणपत्ताइ दव्वं नियनिस्सएण संगहियं।
गिहि गेहंमि यजेसिं ते किणिणो जाण न हु मुणिणो ॥ ८१ ॥
गिहिपुरओ सज्झायं करंति अणणोणमेव झुझंति।
सीसाइयाण कज्जे कलहविवायं उइरेंति ॥ १६२ ॥
किं बहुणा भणिएणं बालाणं ते हवंति रमणिज्जा।
दक्खाणं पुण एए विराहगा छन्नपावहा ॥ १६३ ॥
वाला वयंति एवं वेसो तित्थंकराण एसो वि।
णमणिज्जो धिद्धी अहो सिरसूलं कस्स पुक्करिमो ॥ ७६ ॥

बाद उसने अनेक विहार बनवाए और ऐसी व्यवस्था की कि हजारों भिक्षुओं का निर्वाह सुखपूर्वक होता रहे। दन्तकथा तो यह है कि अशोक ने चौरासी हजार विहार बनवाए, पर इसमें तथ्य इतना ही जान पड़ता है कि अशोक का अनुकरण कर उसकी प्रजा ने और आसपास के राजाओं ने हजारों विहार बनवाए और उनकी संख्या अस्सी-नव्वे हजार तक पहुँची।

"अशोक राजा के इस कार्य से बौद्ध-भिक्षु-संघ परिग्रहवान् बना। भिक्षु की निजी संपत्ति तो केवल तीन चीवर और एक भिक्षा-पात्र भर थी। पर संघ के लिए रहने की एकाध जगह लेने की अनुमति बुद्ध-काल से ही थी। उस जगह पर मालिकी गृहस्थ की होती थी और वही उसकी मरम्मत आदि कराता था। भिक्षु-संघ इन स्थानों में केवल चातुर्मास-भर रहता और शेष आठ महीने प्रवास करता हुआ लोगों को उपदेश दिया करता था। चातुर्मास के अतिरिक्त यदि भिक्षु-संघ किसी स्थान पर अधिक दिन रह जाता था, तो लोग उसकी टीकाटिप्पणी करने लगते थे। पर अशोक-काल के बाद यह परिस्थिति बिल्कुल बदल गई। बड़े-बड़े विहार बन गए और उनमें भिक्षु स्थायी रूप से रहने लगे[1]।"

आचार्य भिक्षु ने (वि० १६ वीं शती में) अपने समय की स्थिति का जो चित्र खींचा है वह (वि० ८-६ वीं शती के) हरिभद्रसूरि से बहुत भिन्न नहीं है। वे लिखते हैं :—

१—आज के साधु अपने लिए बनाए हुए स्थानकों में रहते हैं[2]।

२—पुस्तक, पन्ने, उपाश्रय को मोल लिवाते हैं[3]।

३—दूसरों की निन्दा में रत रहते हैं[4]।

१-भारतीय संस्कृति और इतिहास पृ० ६६-६७

२-साध्वाचार चौपई ढाल १ गा० २ :

आधाकर्मी थानक में रहे तो, पाछे चारित में भेद जी।
नशीत रे दशमें उदेशे, च्यार महीना रो छेद जी॥

३-साध्वाचार चौपई ढाल १ गा० ७ :

पुस्तक पातर उपाआदिक, लिवरावे ले ले नामजी।
आछा भूंडा कहि मोल बतावे, ते करे गृहस्थ नों काम जी॥

४-साध्वाचार चौपई ढाल १ गा० १७

परनिन्दा में राता माता, चित्त में नहीं संतोष जी।
वीर कह्यो दसमां अंग में, तिण वचन में तेरे दोष जी॥

४—गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञा दिलाते हैं कि तू दीक्षा ले तो मेरे पास लेना, और किसी के पास नहीं[१]।

५—चेलों को खरीदते हैं[२]।

६—पुस्तकों का प्रतिलेखन नहीं करते[३]।

७—गृहस्थ के साथ समाचार भेजते हैं[४]।

८—मर्यादा से अधिक वस्त्र रखते हैं[५]।

९—मर्यादा से अधिक सरस आहार लेते हैं[६]।

१-साध्वाचार चौपई ढाल १ गा० १८-१९ :

दिख्या ले तो मो आगे लीजे, और कनें दे पाल जी।
कुगुर एहवो सूंस करावे, ए चोडे ऊंधी चाल जी॥
ए बंधा थी ममता लागे, गृहस्थ सूं मेलप थाय जी।
नशीत रे चोथे उद्देशे, डंड कह्यो जिणराय जी॥

२-साध्वाचार चौपई ढाल १ गा० २२-२४ :

चेला करण री चलगत ऊंधी, चाला वोहत चलाय जी।
साथे लियां फिरे गृहस्थ ने, वले रोकड़ दाम दराय जी॥
विवेक विकल ने सांग पहराए, भेलो करे आहार जी।
सामग्री में जाय वंदावे, फिर फिर करे खुवार जी॥
अजोग नें दिख्या दीधी ते, भगवंत री आगन्या वार जी।
नशीत रो डंड मूल न मान्यों, ते विटल हुवा बेकार जी॥

३-साध्वाचार चौपई ढाल १ गा० २५ :

विन पड़लेह्या पुस्तक राखें, वले जमें जीवां रा जाल जी।
पड़े कुंथुआ उपजे माकड, जिण बांधी मांगी पाल जी॥

४-साध्वाचार चौपई ढाल १ गा० २७-२८ :

गृहस्थ नें साथे कहे संदेसो, तो भेलो हुओ संभोग जी।
तिणनें साधु किम सरधीजे लागो जोग नें रोग जी॥
समाचार विविरा सुध कहि कहि, सानी कर गृही बुलाय जी।
कागद लिखावे करे आमनां, परहाथ दिए चलाय जी॥

५-साध्वाचार चौपई ढाल १ गा० ४१-४२ :

कपड़ा में लोपी मरजादा, लांबा पेना लगाय जी।
अधिको राखे दोयवड़ ओढे, वले बोले मुंसा वाय जी॥
उपगरण नें अधिका राखे, तिण मोटो कियो अन्याय जी।
नशीत ने सोलमें उद्देशे, चोमासी चारित जाय जी॥

६-साध्वाचार चौपई ढाल १ गा० ३८ :

सरस आहार ले विन मरजादा, तो वधे देही री लोथ जी।
काचमणी प्रकाश करे जिम, कुगुरु माया योथ जी॥

में गोचरी जाते हैं[1]।

बनाने के लिये आतुर हो रहे हैं। इन्हें सम्प्रदाय चलाने से साधुपन से नहीं[2]।

पास जाते हुए श्रावकों को ज्यों-त्यों रोकने का यत्न करते कुटुम्ब में कलह का बीज लगा देते हैं[3]।

राग्य घट रहा है; भेख बढ़ रहा रहा है। हाथी का भार गधों हुआ है। वे थक गए हैं और उन्होंने वह भार नीचे डाल है[4]।

८-शिथिलता के विरुद्ध जैन-परम्परा में समय-समय पर क्रान्ति होती रही है। आर्य सुहस्ती आर्य महागिरि के सावधान करने पर तत्काल सम्हल गए[5]। चैत्यवास की परम्परा के विरुद्ध सुविहित-मार्गी साधु बराबर जूझते रहे। हरिभद्रसूरि ने 'संबोध प्रकरण' की रचना कर चैत्यवासियों के कर्तव्यों का विरोध किया। जिनवल्लभसूरि ने 'संघपट्टक' की रचना की और सुविहित-मार्ग को आगे बढ़ाने का यत्न किया। जिनपतिसूरि ने संघपट्टक पर ३ हजार श्लोक-प्रमाण टीका लिखी, जिसमें चैत्यवास का स्वरूप विस्तार से बताया। चैत्यवास के विरुद्ध यह अभियान सतत चालू रहा।

विक्रम की सोलहवीं शती में लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा के विरुद्ध एक विचार

१-साध्वाचार चौपई ढाल १ गा० २०-२१ :

जीमणवार में बहरण जाए, आ साधां री नहीं रीत जी।
बरज्यो आचारंग बृहत् कल्प में, उत्तराधेन नसीत जी॥
आलस नहीं आरा में जातां, वले बैठी पांत वसेष जी।
सरस आहार ल्यावे भर पातर, त्यां लज्या छोडी ले भेष जी॥

२-साध्वाचार चौपई ढाल ३ गा० ११ :

चेला चेली करण रा लोभिया रे, एकंत मत बांधण सूं काम रे।
विकलां नें मूंड-मूंड भेला करे रे, दिराए गृहस्थ ना रोकड़ दाम रे॥

३-साध्वाचार चौपई ढाल ५ गा० ३३-३४ :

केइ आवे सुध साधां कनें, तो मतीयां नें कहे आंम।
थें वर्जी राखो घर रा मनुष्य नें, जावा मत दो तांम॥
कहे दर्शण करवा दो मती, वले सुणवा मत दो वांण।
डराए नें ल्यावो म्हां कनें, ए कुगुरु चरित पिछांण॥

४-साध्वाचार चौपई ढाल ६ गा० २८ :

वैराग घट्यो नें भेष वधियो, हाथ्यां रो भार गधां लदियो।
थक गया बोझ दियो रालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो॥

५-बृहत्कल्प चूर्णि उद्देशक १, निशीथ चूर्णि उ० ८

क्रान्ति की। लोंकाशाह की हुँडी में शिथिलाचार के प्रति स्पष्ट विद्रोह की भावना झलक रही है[१]।

लोंकाशाह के अनुगामी जो शिष्य बने, वे चारित्र की आराधना में विशेष जागरूक रहे।

वि० सं० १५८२ में तपागच्छीय आनन्दविमलसूरि ने चारित्र-शिथिलता को दूर करने का प्रयत्न किया। वे स्वयं उग्र-विहारी बने। उन्होंने १५८३ में एक ३५ सूत्रीय लेख-पत्र लिखा। उसके प्रमुख सूत्र हैं :—

१—विहार गुरु की आज्ञा से किया जाए।

२—वणिक् के सिवाय दूसरों को दीक्षा न दी जाए।

३—परीक्षा कर गुरु के पास विधिपूर्वक दीक्षा दी जाए।

४—गृहस्थों से वेतन दिलाकर पंडितों के पास न पढ़ा जाय।

५—एक हजार श्लोक से अधिक 'लहियों'—प्रतिलिपि करने वालों—से न लिखाया जाए[२]।

आचार की शिथिलता और उसके विरुद्ध क्रान्ति—यह क्रम दिगम्बर परम्परा में भी चलता रहा है। भट्टारकों की क्रिया चैत्यवासियों से मिलती जुलती है। वे भी उग्र-विहार को छोड़ मठवासी हो गए। एक ही स्थान में स्थायी रूप से रहने लगे। उद्दिष्ट भोजन करने लगे। लोहे का कमण्डलु रखना, कपड़े के जूते पहनना, सुखासन—पालकी पर चढ़ना आदि-आदि प्रवृत्तियाँ उनमें घर कर गईं[३]।

त्रिवर्णाचार, धर्म रसिक आदि ग्रन्थ रचे गए। उनमें जैन-मान्यताओं की निर्मम हत्या की गई है[४]।

१-३६६ बोल की हुंडी, शिशुहित शिक्षा-पृ० २५५
२-जैन साहित्य संशोधन खण्ड ३ अंक ४ पृ० ३५६
३-शतपदी (देखो जैन हितैषी भाग ७ अंक ६)
४-(क) त्रिवर्णाचार ४-८५

जपोहोमस्तथा दानं स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
जिनपूजा श्रुताख्यानं न कुर्यात् तिलकं विना॥

(ख)-धर्म रसिक

अतच्युतान्त्यजातीनां दर्शने भाषणे श्रुते।
क्षुतेऽधोवातगमने, दृं भणे जपमुत्सृजेत्॥ ३३॥

(ग)-धर्म रसिक

अन्त्यजैः खनिता कूपा वापी पुष्करिणी सरः।
तेषां जलं न तु ग्राह्यं स्नान पानाय च क्वचित्॥ ५९

षट प्राभृत की टीका में भट्टारक श्रुतसागर ने लोंकाशाह के अनुयायियों को जी भर कोसा है और शासन देवता की पूजा का निषेध करने वालों को चार्वाक, नास्तिक कहकर समर्थ आस्तिकों को सीख दी है कि वे उन्हें ताड़ना दें। उसमें उन्हें पाप नहीं होगा[1]।

इस भट्टारक-पंथ की प्रतिक्रिया हुई। फलस्वरूप 'तेरहपंथ' का उदय हुआ। विक्रम की सत्रहवीं शती (१६८३) में पंडित बनारसीदासजी ने भट्टारक विरोधी मार्ग की नींव डाली। प्रारम्भ में इसका नाम वाणारसीय[2] या बनारसी-मत जैसा रहा किन्तु आगे चल इसका नाम तेरहपंथ हो गया।

पं० नाथूरामजी प्रेमी के अनुसार यह नाम श्वेताम्बर तेरापन्थ के उदय के पश्चात् प्रयुक्त होने लगा है—"तेरापन्थ नाम जब प्रचलित हो गया, तब भट्टारकों का पुराना मार्ग बीस पन्थ कहलाने लगा। परन्तु यह एक समस्या ही है कि ये नाम कैसे पड़े और इन नामों का मूल क्या है। इनकी व्युत्पत्ति बतलाने वाले जो कई प्रवाद प्रचलित हैं, जैसे 'तेरह प्रकार के चारित्र को जो पाले, वह—तेरापन्थी और 'हे भगवान यह तेरापन्थ है' आदि, उनमें कोई तथ्य मालूम नहीं होता और न उनसे असलियत पर कुछ प्रकाश ही पड़ता है।

"बहुत संभव है कि ढूंढकों (स्थानकवासियों) में से निकले हुए तेरहपंथियों के जैसा निन्दित बतलाने के लिए वे लोग जो भट्टारकों को अपना गुरु मानते थे तथा इनसे द्वेष रखते थे, इसके अनुगामियों को तेरापन्थी कहने लगे हों और धीरे-धीरे उनका दिया हुआ यह कच्चा 'टाइटल' पक्का हो गया हो, साथ ही वे स्वयं इनसे बड़े बीसपन्थी कहलाने लगे हों। यह अनुमान इसलिए भी ठीक जान पड़ता है कि इधर के लगभग सौ डेढ़-सौ वर्ष के ही साहित्य में तेरहपन्थ के उल्लेख मिलते हैं, पहले के नहीं[3]।"

श्वेताम्बर-परम्परा में तेरापन्थ की स्थापना वि० संवत् १८१७ (आषाढी पूर्णिमा) में हुई। इसके प्रवर्तक थे आचार्य भिक्षु। वे संवत् १८०८ में स्थानकवासी सम्प्रदाय (जिसका आरम्भ लोंकाशाह की परम्परा में हुआ) में दीक्षित हुए और १८१६ में उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर पृथक् हुए। उनकी दृष्टि में

१-षट् प्राभृत-मोक्ष प्राभृत टीका

"उभय भ्रष्टावेदितव्याः ते लौंकाः" (पृ० ३०५) "लौंकाः पातकिनः" (पृ० ३०५) "लौंकास्तुनरकादौ पतन्ति" (पृ० ३०६) ते पापमूर्तयः श्वेताम्बराभासा लोकापकारकाय नामानो लौंकाः" (पृ० ३०६) "शासन देवता न पूजनीयः······इत्यादि ये उत्सूत्रं मन्वते ते मिथ्यादृष्टयश्चार्वाका नास्तिकास्ते। यदि कदाग्रहं न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भिः गूथलिप्ताभिर्मुखे ताडनीयाः, तत्र पापं नास्ति !"

२-युक्ति प्रबोध १८

३-जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३६६-६७ :

उस समय वह सम्प्रदाय चारित्रिक-शिथिलता से आक्रान्त हो गया था। आचार्य भिक्षु ने आगमों का अध्ययन किया, तब उन्हें लगा कि आज हमारा आचरण सर्वथा आगमानुमोदित नहीं है और सिद्धान्त-पक्ष भी विपरीत है[1]। उनका अन्तर्द्वन्द्व अभी प्रारम्भिक दशा में था। राजनगर (मेवाड़) के श्रावकों ने उसमें तीव्रता ला दी। आचार्य रुघनाथ जी ने भिक्षु को भेजा था उन श्रावकों को समझाने के लिए और वे ले आये उनकी समझ को अपनी समझ का रूप देकर। भिक्षु की प्रतिभा पर आचार्य और श्रावक दोनों को भरोसा था।

आचार्य ने सोचा राजनगर के श्रावक साधुओं के आचार को लेकर संदिग्ध हैं। उन्हें हर कोई नहीं समझा सकता। भिक्षु सूक्ष्म प्रतिभा का धनी है। वही इन्हें समझा सकता है। आचार्य ने सारी बात समझा राजनगर चातुर्मास के लिए भिक्षु को भेजा।

भिक्षु केवल शास्त्रज्ञ ही नहीं थे, व्यवहार-पटुता भी उनकी बेजोड़ थी। उन्होंने श्रावकों की मानसिक स्थिति का अध्ययन किया। श्रावक निर्दोष थे। वे साधुओं को इसीलिए वन्दना नहीं करते थे कि साधु चारित्र-शिथिलता का सेवन कर रहे हैं। श्रावक भिक्षु की प्रतिभा और वैराग्य पर भरोसा करते थे। प्रतिभा का सम्बन्ध मस्तिष्क से है और वैराग्य का हृदय से। विश्वास हृदय से जुड़ता है तभी उसका सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है। भिक्षु का हृदय भी स्वच्छ था और मस्तिष्क भी स्वच्छ। इसलिए श्रावकों ने उनके परामर्श की अवहेलना नहीं की और वे साधुओं को वन्दना करने लगे[2]। किन्तु विश्वास का बोझ सिर पर लेना कोई कम बात नहीं है। भिक्षु उस बोझ से नत हो गए। उनका दायित्व बढ़ गया। उन्होंने प्रत्येक आगम को दो-दो बार पढ़ा[3]। आगम की विधियों और साधु-समाज के व्यवहारों में उन्हें स्पष्ट

१-भिक्खु यश रसायण ढाल २ दोहा ६ :

सरधा पिण साची नहीं, अवल नहीं आचार।
इण विधि करे आलोचना, पिण द्रव्य गुरु सूं अति प्यार॥

२-भिक्खु यश रसायण ढाल २ गा० १२ :

आप वैरागी बुद्धिवन्त छो, आपरी परतीत।
तिण कारण वन्दना करां, आप जगत में वदीत॥

३-भिक्खु यश रसायण ढाल ३ दोहा ५-६ :

ओ दूधारो खाँडो अछे, एहवी मन में धार।
दोय वार सूत्राँ भणी, वांच्या धर अति प्यार॥
सूत्र विविध निर्णय करी, गाढी मन में धार।
सम्यक्त चारित बिहुं नहीं, एहवो कियो विचार॥

अन्तर दीखा और वे इस खाई को पाटने के लिए आगे बढ़े। चतुर्मास समाप्त हुआ। आचार्य के पास आए। परिस्थिति का संकेत आचार्य तक पहुँच चुका था।

भिक्षु के साथ टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारीमलजी ये चार साधु और थे। वापस आते समय ये दो मार्गों में विभक्त होकर आए। भिक्षु ने वीरभाणजी से कहा—"पहले पहुँच जाओ तो राजनगर की स्थिति की आचार्य के पास चर्चा न करना। मैं ही उसे समुचित ढंग से उनके सम्मुख उपस्थित करूंगा।" किन्तु वीरभाणजी बात को पचा नहीं सके। वे पहले पहुँचे और राजनगर की घटना को भी आचार्य तक पहुँचा दिया। भिक्षु ने आचार्य के पास पहुँच कर सारा घटना-चक्र बदला हुआ पाया। उन्होंने परिस्थिति को संभाला। आचार्य को प्रसन्न कर सारी स्थिति उनके सामने रखी। कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं मिला। भिक्षु ने उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

जैन-परम्परा में एक नया सम्प्रदाय जन्म लेगा—यह कल्पना न आचार्य रुघनाथजी को थी और न स्वयं भिक्षु को भी। यह कोई गुरुत्व और शिष्यत्व का विवाद नहीं था[1]। भिक्षु के मन में रुघनाथजी को गुरु और स्वयं को उनका शिष्य मानने की भावना नहीं होती[2] तो वे दूसरा सम्प्रदाय खड़ा करने की बात सोचते। किन्तु वे ऐसा क्यों सोचते? आचार्य रुघनाथजी से उन्हें बहुत स्नेह था। आचार्य रुघनाथजी एक बड़े सम्प्रदाय के महान् नेता थे। उनके उत्तराधिकारी के रूप में भिक्षु का नाम लिया जाता था। फिर वे क्यों उनसे पृथक् होते? किन्तु भिक्षु के मन में और कोई भावना नहीं थी। वे केवल चारित्र-शुद्धि के लिए छटपटा रहे थे[3]। यही था उनका ध्येय और इसीकी पूर्ति के लिए वे अपने आचार्य से खेद के साथ पृथक् हुए।

१-भिक्षु यश रसायण ढाल ४ गा० १० :

जो थे मानो हो सूत्र नी बात,
तो थेइज म्हारा नाथ।
नहिंतर ठीक लागे नहीं॥

२-भिक्षु यश रसायण ढाल २ दोहा ६ :

पटधारक भिक्खु प्रगट, हद आपस में हेत।
इतलै कुण विरतन्त हुवो, सुणज्यो सहू सचेत॥

३-भिक्षु यश रसायण ढाल ४ गा० ११-१३ :

म्हे घर छोड्यो हो आतम तारण काम।
और नहीं परिणाम।
तिण सूं वार बार कहूं आपने॥

जैन परम्परा में अनेक सम्प्रदाय हैं, पर उनमें तात्त्विक मतभेद बहुत कम है। अधिकांश सम्प्रदाय आचार-विषयक मान्यताओं को लेकर स्थापित हुए हैं। देश, काल की परिस्थिति से उत्पन्न विचार, आगमिक सूत्रों की व्याख्या में क्वचित्-क्वचित् मतभेद, रुचिभेद आदि-आदि कारण ही जैन साधु-संघ को अनेक भागों में विभक्त किए हुए हैं। राजनगर के श्रावकों ने जो प्रश्न उपस्थित किए, वे भी आचार विषयक थे। उन्होंने कहा—"वर्तमान साधु उद्दिष्ट (साधु के निमित्त बनाया हुआ) आहार लेते हैं, उद्दिष्ट स्थानकों में रहते हैं, वस्त्र-पात्र सम्बन्धी मर्यादाओं का पालन नहीं करते, बिना आज्ञा जिस-तिस को मूँड लेते हैं आदि-आदि आचरण साधुत्व के प्रतिकूल हैं[1]।" भिक्षु मान्यता और आचार दोनों में त्रुटि अनुभव कर रहे थे। उसी समय उन्हें यह प्रेरणा और मिली।

वस्त्र-पात्र के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मतभेद है किन्तु उद्दिष्ट आहार आदि के विषय में कोई मत-भेद नहीं है[2]। सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई भी जैन मुनि यह नहीं कह सकता कि उद्दिष्ट आहार लिया जा सकता है, उद्दिष्ट स्थानकों में रहा जा सकता है। किन्तु उस समय एक मानसिक परिवर्तन अवश्य हो गया था—अभी दुष्षम समय है, पांचवाँ आरा है, कलिकाल है। इस समय साधु के कठोर नियमों को नहीं निभाया जा सकता। इस धारणा ने साधु-संघ को शिथिलता की ओर मोड़ दिया[3]।

आप नानों हो स्वामी म्हां नी वात
छोड़ देवो पक्षपात
इकदिन परभव जावणो ॥
पूजा श्रांसा हो लही अनन्ती वार
दुर्लभ श्रद्धा शीकार
निर्णय करो आप म्हनो ॥

१-भिक्षु जश रसायण ढाल २ गा० ८, ९ :

आधाकर्मी-थानक आदर्‌या, मोल लिया अविछि।
उपधि वस्त्र, पात्र अधिक ही, आ पिण ये थाप कीवी ॥
बार किंवाड़ जड़ो सदा, इत्यादिक अवलोक।
म्हे वन्दना करां किण रीत सूं, ये तो थाप्या दोष ॥

२-दशवैकालिक १०।४; मूलाचार ६।३

३-भिक्षु जश रसायण ढाल ५ गा० १५-१६ :

स्थानकपन्थी इसड़ी कहे रे, सांभल भिक्खु बात।
पूरो साधपणों नहीं पले रे, दुखमकाल साख्यात ॥
भिक्खु कहे इम भाखियो रे, सूत्र आचारांग मांय।
ढीला भागल इम भाखसी रे, हिवड़ां शुद्ध न चलाय ॥

यह एक जटिल पहेली-सी लगती है कि किसे चारित्र-शुद्धि कहा जाए और किसे चारित्र-शिथिलता ?

क्योंकि आगमिक व्याख्याओं और सूक्ष्म रहस्यों का पार पाना जलधि-तरण से भी अधिक श्रम-साध्य है।

१—एक आचार्य ने एक कार्य को शिथिलाचार माना है, दूसरे ने नहीं माना। एक आचार्य ने एक प्रवृत्ति का खण्डन किया है, दूसरे ने उसका समर्थन किया है। हरिभद्रसूरि ने साधु को तीसरे पहर के अतिरिक्त गोचरी करने और बार-बार आहार करने को शिथिलाचार बतलाया है किन्तु आचार्य भिक्षु ने इसे अस्वीकार किया है[1]।

२—अनेक आचार्यों ने १४ उपकरणों से अधिक उपकरण रखना साधु के लिए निषिद्ध बतलाया है किन्तु आचार्य भिक्षु ने इसका खण्डन किया है[2]।

३—कई आचार्यों की मान्यता रही है कि साधु न लिखे और न चित्र बनाए। आचार्य भिक्षु ने इसका खण्डन किया है[3]।

४—हरिभद्रसूरि ने साध्वियों द्वारा लाया गया आहार लेने को शिथिलाचार कहा है किन्तु आचार्य भिक्षु ने इसे शिथिलाचार नहीं माना।

५—कई आचार्यों ने साधुओं के लिए कविता करने का निषेध बतलाया है, आचार्य भिक्षु ने इसे मान्य नहीं किया[4]।

कहीं-कहीं रूढियों में कठोर आचार और कठोर आचार में रूढि की कल्पना हो जाती है। यद्यपि सामयिक विधि-निषेधों के आधार पर चारित्र की शुद्धि या शिथिलता का एकान्तिक निर्णय करना कठिन हो जाता है, फिर भी कुछ विषय ऐसे स्पष्ट होते हैं कि उनके आधार पर चारित्र की शुद्धि या शिथिलता का निर्णय करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती।

आचार्य भिक्षु ने चारित्रिक-शिथिलता के जो विषय प्रस्तुत किए हैं उनमें कुछ विषय ऐसे हैं कि जो प्रचुर मात्रा में व्याप्त थे और जिनके कारण तत्कालीन साधु-समाज को चारित्र-शिथिलता से आक्रान्त कहा जा सकता है, कुछ ऐसे हैं, जो किसी किसी साधु में मिलते होंगे। भिक्षु का दिशा सूचक यंत्र आगम थे। उन्हीं के सहारे से उन्होंने शुद्धाचार-अनाचार का निर्णय किया। उनका कहना था कि "आगम और जिन-आज्ञा ही मेरे लिये प्रमाण हैं। वे ही मेरे आधार हैं।" इनके सब निर्णय इसी कसौटी पर कसे हुए थे और इसलिये अपने आपमें शुद्ध थे।

१-साध्वाचार चौपई ढाल १७

२-जिनाग्या रो चौढालियो—उपकरण की ढाल

३-जिनाग्या रो चोढालिया

४-साध्वाचार चौपई ढाल ६

तेरापंथ की स्थापना युग की मांग थी। आचार्य भिक्षु के नेतृत्व में तेरह साधु एकत्रित हुए। किसी कवि ने नाम रख दिया तेरापंथ[१]। वह आचार्य भिक्षु तक पहुँचा। उन्होंने उसे—'हे प्रभो यह तेरापंथ' इस रूप में स्वीकार किया और इसकी सैद्धान्तिक व्याख्या यह की—

जहाँ पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह; पांच *समिति—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप, उत्सर्ग* और *तीनगुप्ति—मन*, वचन, शरीर ये तेरह (राजस्थानी में तेरा) नियम पाले जाते हैं—वह तेरापंथ है[२]।

आचार्य भिक्षु ने १८१ बोल की व ३०६ बोल की हुंडी में वर्तमान साधु समाज की आचार-शिथिलता का पूरा विवरण प्रस्तुत किया है। उस समय निम्न मान्यताएँ और क्रिया-कलाप प्रचलित हो गए थे।

१—भगवान् महावीर का भेख भी वन्दीय है।

२—इस समय शुद्ध साधुपन नहीं पाला जा सकता।

३—व्रत और अव्रत को पृथक्-पृथक् न मानना।

४—मिश्र धर्म की मान्यता—एक ही क्रिया में पुण्य और पाप दोनों का स्वीकार।

५—लौकिक दया और दान को लोकोत्तर दया और दान से पृथक् न मानना।

६—जिस कार्य के लिए भगवान् महावीर की आज्ञा नहीं है वहाँ धर्म मानना।

७—दोषपूर्ण आचार की स्थापना करना।

८—स्थापित स्थानक में रहना।

६—उद्दिष्ट आहार लेना।

१-भिक्षु यश रसायण पृ० २३ :
साध साध रो गिलो करै, ते तो आप आपरो मंत।
सुणजो रे शहर रा लोकां, ए तेरापन्थी तंत॥

२-भिक्षु यश रसायण पृ० २३ :
लोक कहै तेरापन्थी, भिक्खु संबली भावै हो।
हे प्रभु ओ पन्थ है, और दाय न आवै हो॥
मन भ्रम मिटावै हो, सो ही तेरापन्थ पावै हो।
पंच महाव्रत पालतां, शुद्धि सुमति सुहावै हो॥
तीन गुप्त तीखी तरे, मल आतम भावै हो।
चित्त सूं तेरा ही चाहवै हो॥

१०—साधु के निमित्त खरीदी वस्तुओं का उपयोग करना।
११—नित प्रति एक घर से भोजन लेना
१२—वस्त्र-पात्र का प्रतिलेखन न करना
१३—अभिभावकों की आज्ञा प्राप्त किए बिना गृहस्थ को दीक्षित करना
१४—मर्यादा से अधिक वस्त्र-पात्र रखना
१५—गृहस्थों से अपने लिए प्रतियाँ लिखवाना[1]।

इन्हीं विचारों और आचरणों की प्रतिक्रिया हुई उसी का परिणाम तेरापन्थ है[2]।

तेरापंथ का प्रारम्भ वि० १८१७ आषाढ़ी पूर्णिमा से होता है। उसी दिन आचार्य भिक्षु ने नए सिरे से व्रत ग्रहण किए[3]। इस प्रकार उनकी दीक्षा के साथ ही तेरापन्थ का सहज प्रवर्तन हुआ।

महापुरुष का अन्तःकरण परमार्थ से परिपूर्ण होता है। वह जैसे अपना हित चाहता है वैसे दूसरों का भी। आचार्य भिक्षु को जो श्रेयोमार्ग मिला उसे उन्होंने दूसरों को भी दिखाना चाहा, पर नए के प्रति जो भावना होती है वही होती है। पुराने को जो विश्वास प्राप्त होता है वह सहसा नए को नहीं होता। नई स्थिति में सर्व प्रथम विरोध का सामना करना पड़ता है।

१-१८१ बोल की हुँडी: बोल १२६

२-भिक्खु यश रसायण ढाल २ दोहा १-५

अल्प दिवस रे आंतरै, सिख्या सूत्र सिद्धान्त।
तीव्र बुद्धि भिक्खु तणी, सुखदाई शोभन्त॥
विविध समय रस बांचतां, बारूं कियो विचार।
अरिहन्त वचन आलोचतां, ये असल नहीं अणगार॥
थां थापिता थानक आदर्‌या, आधाकर्म्मी अजोग।
मोल लियां मांहे रहे, नित्य पिण्ड लिए निरोग॥
पडिलेह्यां विण रहै पड्या, पोथ्यां रा गच्छ पेख।
विण आज्ञा दीक्षा दिये, विवेक विकल विशेष॥
उपधि वस्त्र पात्र अधिक, मर्य्यादा उपरंत।
दोष थापै जाण जाण ने, तिण सूं ए नहीं संत॥

३-भिक्खु यश रसायण ढाल, ८ गा० ३-४ :

सम्वत् अठारै सतरे समै, मु० पञ्चाङ्ग लेखे पिछाण हो।
आषाढ़ सुदी पुनम दिने, मु० केलवे दीक्षा कल्याण हो॥
अरिहन्त नी लेइ आगन्या, मु० पचख्या पाप अठार हो।
सिद्ध साखे करी स्वाम जी, मु० लीधो संजम भार हो॥

में आया और उनका अनुयायी बन गया। कुछ लोगों ने कहा—स्वामीजी! जग्गू गाँधी आपका अनुयायी बना, इस बात से अमुक सम्प्रदायवाले सभी लोगों को कष्ट हुआ है पर खेतसी लूणावत को तो बहुत ही कष्ट हुआ है। स्वामीजी बोले—विदेश से मौत का समाचार आने पर चिंता सब को होती है पर लम्बी कांचुली तो एक ही पहनती है[1]।

आचार्य भिक्षु व्याख्यान देते। कुछ लोगों को वह बहुत ही अच्छा लगता और कुछ उसका विरोध करते। जिनका विरोध था उन्होंने कहा—भीखण जी व्याख्यान देते हैं तब रात एक पहर से बहुत अधिक चली जाती है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—सुख की रात छोटी होती है पर दुःख की रात बहुत बड़ी लगती है[2]।

एक व्यक्ति ने कहा— स्वामी जी! इधर आप व्याख्यान देते जा रहे हैं और उधर सामने बैठे हुए कुछ लोग आपकी निंदा करते जा रहे हैं। आपने कहा—यह आदत की लाचारी है। झालर बजने पर कुत्ता भौंकता है। वह यह नहीं समझता है कि यह विवाह के अवसर पर बज रही है या किसी के मर जाने पर। निंदा करनेवाला यह नहीं देखता कि यह ज्ञान की बात कही जा रही है या कुछ और। उसका स्वभाव निंदा करने का है सो कर लेता है[3]।

तत्त्व की चर्चा में लम्बाई होती है। काव्य की चर्चा लम्बी नहीं होती। उसकी समाप्ति वह एक ही वाक्य कर देता है जिसमें चुभने की क्षमता हो।

: २१ : विवाद का अन्त

एक रस्सी को पकड़ कर दो आदमी खींचते हैं—एक इधर और एक उधर। परिणाम क्या होता है? रस्सी टूटती है। दोनों आदमी गिर जाते हैं। खिंचाव करनेवाला अर्थात् गिरनेवाला। जो खिंचाव को मिटाता है वह गिरने से उबार लेता है।

दो साधुओं में खींचातानी हो गई। वे आचार्य भिक्षु के पास आये। एक ने कहा—इसके पात्र में से इतनी दूर तक जल की बूँदें गिरती गईं। दूसरे ने कहा—नहीं, इतनी दूर तक नहीं गिरीं। तीसरा कोई साथ में नहीं था। दोनों अपनी-अपनी बात पर डटे रहे। विवाद नहीं सुलझा। तब आचार्यवर ने कहा—तुम दोनों रस्सी लेकर जाओ और उस स्थान को माप कर वापस आ जाओ।

१-दृष्टान्त : १७

२-दृष्टान्त : १८

३-दृष्टान्त : १९

साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका चारों तीर्थ तेरापन्थ को आधार मानकर चलने लगे। सारा कार्य स्थिर भाव में परिणत हुआ तब आचार्य भिक्षु ने वि० १८३२ में संघ-व्यवस्था की ओर ध्यान दिया और और पहला लेख-पत्र लिखा। इस प्रकार आचार-शुद्धि के अभियान की दृष्टि से तेरापन्थ का उदय वि० १८१७ में हुआ। प्रचार की दृष्टि से उसका उदय मुनि-युगल की प्रार्थना के साथ-साथ हुआ। उसका विस्तार ग्रन्थ-निर्माण के साथ-साथ हुआ और उसका संगठित रूप लेख-पत्र के साथ वि० १८३२ में हुआ।

"साधन बीज है और साध्य वृक्ष, इसलिए जो सम्बन्ध बीज और वृक्ष में है, वही सम्बन्ध साधन और साध्य में है[1]।" महात्मा गाँधी के इस विचार का उद्गम बहुत प्राचीन हो सकता है, किन्तु इसके विशाल-प्रवाह आचार्य भिक्षु हैं।

आचार्य भिक्षु रहस्यमय पुरुष हैं। अनेक लोगों की धारणा है कि उन्होंने वैसा कहा है, जो पहले कभी नहीं कहा गया। उनके विचारों में विश्वास न रखने वाले कहते हैं—उन्होंने ऐसी मिथ्या धारणाएँ फैलाई हैं जो सब धर्मों से निराली हैं। उनके विचारों में विश्वास रखने वाले कहते हैं—उन्होंने वह आलोक दिया है, जो धर्म का वास्तविक रूप है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे अलौकिक पुरुष हैं। उनका तत्त्व-ज्ञान और उनकी व्याख्याएँ अलौकिक हैं। लौकिक-पुरुष साध्य की ओर जितना ध्यान देते हैं, उतना साधन की ओर नहीं देते। धर्म इसलिए अलौकिक है कि उसमें साधन का उतना ही महत्त्व है, जितना कि साध्य का। आचार्य भिक्षु ने यह सूत्र प्रस्तुत किया—"अहिंसा के साधन उसके अनुकूल हों तभी उसकी आराधना की जा सकती है, अन्यथा वह हिंसा में परिणत हो जाती है।"

इस सूत्र ने लोगों को कुछ चौंकाया। किन्तु इसकी व्याख्या ने तो जन-मानस को आन्दोलित ही कर दिया। आचार्य भिक्षु ने कहा—

१—कई लोग कहते है—"जीवों को मारे बिना धर्म नहीं होता। यदि मन के परिणाम अच्छे हों तो जीवों को मारने का पाप नहीं लगता।" पर जानबूझ कर जीवों को मारने वाले के मन का परिणाम अच्छा कैसे हो सकता है[2]!

१-हिन्द स्वराज्य पृ० २२०

२-व्रताव्रत ढाल १२ गा० ३४-३८ :

केई कहें जीवां नें मार्‌यां विना, धर्म न हुवें तांम हो।
जीव मार्‌यां रो पाप लागें नहीं, चोखा चाहीजें निज परिणांम हो॥

२—जहाँ दया है वहाँ 'जीव-वध किए बिना धर्म नहीं होता' यह सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता।

३—जीव-वध होता है वह जीवन की दुर्बलता है किन्तु उसे धर्म का रूप देना कि 'हिंसा किए बिना धर्म नहीं होता' नितान्त दोषपूर्ण है।

४—एक जीव को मार कर दूसरे जीव की रक्षा करना धर्म नहीं है। धर्म यह है कि अधर्मी को समझा-बुझा कर धर्मी बनाया जाए[1]।

५—जीवों को मार कर जीवों का पोषण करना लौकिक-मार्ग है। उसमें जो धर्म बताते हैं वे पूरे मूढ़ और अज्ञानी हैं[2]।

६—कई लोग कहते हैं—"दया लाकर जीवों को मारने में धर्म और पाप दोनों होते हैं[3]।" किन्तु पाप करने से धर्म नहीं होता और धर्म करने से पाप नहीं होता। एक करणी में दोनों नहीं हो सकते[4]।

७—पाप और धर्म की करणी भिन्न-भिन्न है[5]।

केई कहें जीव मार्‌यां बिना, मिश्र न हुवें छें तांम हो।
पिण जीव मारण री खानी करे, ले ले परिणांमां रो नांम हो॥
केई धर्म नें मिश्र करवा भणी, छ काय रो करें घमसांण हो।
तिणरा चोखा परिणांम किहा थकी' पर जीवां रा लूटें छें प्रांण हो॥
कोई जीव खवावे छें तेहना, चोखा कहें छें परिणांम हो।
कहें धर्म नें मिश्र हुवें नहीं, जीव खवाया विण तांम हो॥
जीव खांण रा परिणांम छें अति बुरा, खवावण रा पिण खोटा परिणांम हो।
यूं ही भोलां नें न्हांखें भरम में, ले ले परिणांमां रा नांम हो॥

१-अनुकम्पा ढाल ५ गा० ५ :
चोर हिंसक ने कुशीलिया, यांरे तांई रे दीधो साधां उपदेश।
त्यांनें सावद्य रा निरवद्य कियां, एहवो छें रे जिण दया धर्म रेस॥

२-अनुकम्पा ढाल ९ गा० २५ :
जीवां ने मार जीवां ने पोषे, ते तो मारग संसार नो जांणो जी।
तिण मांहे साधु धर्म बतावे, पूरा छें मूढ़ अयांणो जी॥

३-निन्हव चौपई ढाल ३ दूहा २ :
कहें दया आंण ने जीव मारीयां, हुवें छें धर्म नें पाप।
ए करम उदें पंथ काढीयो, भगवंत वचन उथाप॥

४-निन्हव चौपई ढाल ३ दोहा ३ :
पाप कियां धर्म न नीपजें, धर्म थी पाप न होय।
एक करणी में दोय न नीपजें, ए संका म आंणों कोय॥

५-व्रताव्रत ढाल ११ गा० ३२ :
जुन में पाप धर्म दोनूं कहि २, वणां लोकां नें विगोया रे।
बले विष सिघ्यी पोतांरा हुंता, त्यांनें तो जावक बोया रे॥

८—अव्रत का सेवन करना, कराना और अव्रत-सेवन का अनुमोदन करना पाप है[1]।

९—व्रत का सेवन करना, कराना और व्रत-सेवन का अनुमोदन करना धर्म है।

१०—सम्यग्-दृष्टि लौकिक और लोकोत्तर मार्ग को भिन्न-भिन्न मानता है[2]।

११—धर्म त्याग में है, भोग में नहीं।

१२—धर्म हृदय-परिवर्तन में है, बलात्कार में नहीं।

१३—असंयति के जीने की इच्छा करना राग है।

१४—उसके मरने की इच्छा करना द्वेष है।

१५—उसके संयति होने की इच्छा करना धर्म है।

ये सिद्धान्त नए नहीं थे। आचार्य भिक्षु ने कभी नहीं कहा कि मैंने कोई नया मार्ग ढूँढा है। उन्होंने यही कहा—"मैंने भगवान् महावीर की वाणी को जनता के सम्मुख यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।" यह बहुत बड़ा सत्य है। दुनियाँ में नया तत्त्व कोई है भी नहीं। जो है वह पुराना है, बहुत पुराना है। नये का अर्थ है पुराने को प्रकाश में लाना। जो आलोक बनकर पुराने को प्रकाशित करता है वही नव-निर्माता है। संसार के जितने भी नव-निर्माता हुए हैं उन्होंने यही किया है—आलोक बनकर प्राचीन को नवीन बनाया है। महात्मा गाँधी ने अपने अहिंसक प्रयोगों के सम्बन्ध में लिखा है—"मैं कोई नया सत्य प्रदर्शित नहीं करता। मैं बहुत से पुराने सत्यों पर नया प्रकाश डालने का दावा अवश्य करता हूँ[3]। मैंने पहला मौलिक सत्याग्रही होने का दावा कभी नहीं किया। जिसका मैंने दावा किया है वह है उस सिद्धान्त का लगभग सार्वभौम पैमाने पर उपयोग[4]।"

पुराना सत्य जब नया बनकर आता है तब विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। आचार्य भिक्षु ने जिस सत्य को प्रकाशित किया वह नया नहीं है,

---

१-निन्हव चौपई ढाल २ गा० ५ :

इविरत सेवीयां सेवायां भलो जाणीयां, तीनोंई करणां पाप हो।
एहवो भगवंत वचन उथाप नें, कीधो छें मिथ री थाप हो॥

२-अणुकम्पा ढाल ११ गा० ५० :

कही कही ने कितरोएक कहूँ, संसार तणा उपकार अनेक।
ग्यान दर्शन चारित ने तप बिना, मोक्ष तणो उपकार नहीं छें एक॥

३-यंग इंडिया, भाग १, पृ०५६७

४-यंग इंडिया, भाग ३, पृ० ३६७

प्राचीन आचार्यों ने इसे प्रकाशित किया है। किन्तु यह नया इसलिए लगता है कि आचार्य भिक्षु ने इसे जिस व्यवस्थित रूप से सैद्धान्तिक रूप दिया है, उस रूप में अन्य आचार्यों ने सैद्धान्तिक रूप नहीं दिया। यह स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि किसी भी एक आचार्य ने ये सारी बातें नहीं कहीं। विकीर्ण रूप में देखें तो आचार्य धर्मदासगणी ने लिखा है—

"जो तप और नियम में सुस्थित हैं उनका जीना भी अच्छा है और मरना भी अच्छा है। वे जीवित रहकर गुणों का अर्जन करते हैं और मरकर सुगति को प्राप्त होते हैं[1]।"

"जो पाप-कर्म करने वाले हैं, उनका जीना भी अच्छा नहीं है और मरना भी अच्छा नहीं है। वे जीवित रहकर वैर की वृद्धि करते हैं और मरकर अन्धकार में जा गिरते हैं[2]।"

आचार्य जिनसेन ने लिखा है—

"अर्थ और काम से सुख नहीं होता, क्योंकि ये संसार को बढ़ाने वाले हैं। जो धर्म सावद्य की उत्पत्ति करता है; उस धर्म से भी सुख नहीं होता। प्रधान सुख उससे होता है, जो निःसावद्य धर्म है[3]।"

कुछ व्यक्ति कहते हैं— आचार्य भिक्षु ने धर्म को लौकिक और लोकोत्तर के भेदों में विभक्त कर जीवन के टुकड़े कर डाले। इस आरोप को हम अस्वीकार नहीं करते और साथ-साथ हम यह भी स्वीकार किए बिना भी नहीं रह सकते कि जीवन को टुकड़ों में बाँटे बिना कोई रह भी नहीं सकता। भगवान् महावीर ने निक्षेप-व्यवस्था में धर्म को लौकिक-लोकोत्तर भागों में विभक्त किया है।

महात्मा बुद्ध ने कहा—

"भिक्षुओ, ये दो दान हैं।"

"कौन से दो?"

१-उपदेश माला श्लोक ४४३।

तवनियमसुट्ठियाणं, कल्लाणं जीवियं पि मरणं पि।
जीवंतऽऽज्जंति गुणा, मयाऽवि पुण सुग्गइं जंति॥

२-वहीं श्लोक ४४४:

अहियं मरणं च अहियं जीवियं पावकम्मकारीणं।
तमसम्मि पडंति मया, वेरं वड्ढंति जीवंता॥

३-महापुराणे उत्तरपुराण ५१ पर्व पृ० २६

न तावदर्थं कामाभ्यां, सुखं संसार वर्धनात्।
नासुकादायं मे धर्माद् यस्मात् सावद्य सम्भवः॥ १०
निःसावद्योऽस्तिधर्मोऽक, स्ततः सुखमनुत्तमम्।
इत्युदर्कोवितर्कोऽस्य विरक्तस्यामवत्ततः॥ ११

"भौतिक-दान तथा-धर्म दान।" "भिक्षुओ, ये दो दान हैं। भिक्षुओ, इन दोनों दानों में धर्म-दान श्रेष्ठ है[१]।"

"भिक्षुओ, ये दो संविभाग (वितरण) हैं।"

"कौन से दो?"

"भौतिक-संविभाग तथा धार्मिक-संविभाग।" "भिक्षुओ, ये दो संविभाग हैं। भिक्षुओ, इन दोनों संविभागों में धार्मिक संविभाग श्रेष्ठ है[२]।"

"भिक्षुओ ये दो सुख हैं।"

"कौन से दो?"

"लौकिक-सुख तथा लोकोत्तर-सुख।" "भिक्षुओ, ये दो सुख हैं। भिक्षुओ, इन दोनों सुखों में लोकोत्तर-सुख श्रेष्ठ है।"

"भिक्षुओ, ये दो सुख हैं।"

"कौन से दो?"

"साश्रव-सुख तथा अनाश्रव-सुख।"

"भिक्षुओ, ये दो सुख हैं।" "भिक्षुओ, इन दोनों सुखों में अनास्रव-सुख श्रेष्ठ है।"

"भिक्षुओ, ये दो सुख हैं।"

"कौन से दो?"

"भौतिक-सुख तथा अभौतिक-सुख।"

"भिक्षुओ, ये दो सुख हैं।" "भिक्षुओ, इन दोनों सुखों में अभौतिक-सुख श्रेष्ठ है[३]।"

आचार्य धर्मदासगणी का अभिमत है—"तीर्थंकर भगवान् बलात् हाथ पकड़कर किसी को हित में प्रवृत्त और अहित से निवृत्त नहीं करते[४]। वे उपदेश देते हैं। उत्पथ पर चलने से होने वाले परिणामों का ज्ञान देते हैं। उसे जो सुनता है वह मनुष्यों का नहीं, देवताओं का भी स्वामी होता है[५]।"

आचार्य भिक्षु ने जो कहा, वह उनके पश्चात् भी कहा गया है। महात्मा

१-अंगुत्तर—निकाय प्रथम भाग पृ० ९४

२-अंगुत्तर—निकाय प्रथम भाग पृ० ९५

३-अंगुत्तर—निकाय प्रथम भाग पृ० ८२

४-उपदेशमाला श्लोक : ४४८

अरिहंता भगवंतो, अहियं व हियं व न वि इहं किंचि।
वारंति कारविंति य, घित्तूण जणं बला हत्थे॥

५-उपदेशमाला श्लोक : ४४९

उवएसं पुण तं दिंति, जेण चरिएण कित्तिनिलयाणं।
देवाणवि हुंति पहू, किमंग पुण मणुअमित्ताणं॥

गाँधी ने अहिंसा के ऐसे अनेक तथ्यों को प्रकाशित किया है, जिनका आचार्य भिक्षु के अभिमत से गहरा सम्बन्ध है। उन्होंने लिखा है—

१—यह यथार्थ है कि मैंने भावना को प्राधान्य दिया है। किन्तु अकेली भावना से अहिंसा सिद्ध नहीं हो सकती। यह सच है कि अहिंसा की परीक्षा अन्त में भावना से होती है। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि कोरी भावना से ही अहिंसा न मानी जाएगी। भावना का माप भी कार्य पर से ही निकालना पड़ता है। और जहाँ स्वार्थ के वश होकर हिंसा की गई है, वहाँ भावना चाहे कितनी ही ऊँची क्यों न हो, तो भी स्वार्थमय हिंसा तो हिंसा ही रहेगी। इससे उल्टे जो आदमी मन में वैर-भाव रखता है किन्तु लाचारी से उसे काम में नहीं ला सकता, उसे वैरी के प्रति अहिंसक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसकी भावना में वैर छिपा हुआ है। इसलिए अहिंसा का माप निकालने में भावना और कार्य दोनों की परीक्षा करनी होती है[1]।"

२—धर्म संयम में है, स्वच्छन्दता में नहीं। जो मनुष्य शास्त्र की दी हुई छूट से लाभ नहीं उठाता वह धन्यवाद का पात्र है। संयम की कोई मर्यादा नहीं।

संयम का स्वागत दुनियाँ के तमाम शास्त्र करते हैं। स्वच्छन्दता के विषय में शास्त्रों में भारी मतभेद है। समकोण सब जगह एक ही प्रकार का होता है। दूसरे कोण अगणित हैं। अहिंसा और सत्य ये सब धर्मों के समकोण हैं। जो आचार इस कसौटी पर न उतरे वह त्याज्य है। इसमें किसी को शंका करने की आवश्यकता नहीं। अधूरे आचार की इजाजत चाहे हो। अहिंसा-धर्म का पालन करने वाला निरन्तर जागरुक रहकर अपने हृदय-बल को बढ़ावे और प्राप्त छूटों के क्षेत्र को संकुचित करता जाए। भोग हरगिज धर्म नहीं। संसार का ज्ञानमय त्याग ही मोक्ष-प्राप्ति है[2]।

३—लेकिन उससे यह अर्थ नहीं निकाल सकते कि गीता जी में हिंसा का ही प्रतिपादन किया गया है। यह अर्थ निकालना उतना ही अनुचित है जितना यह कहना कि शरीर-व्यापार के लिए कुछ हिंसा अनिवार्य है और इसलिए हिंसा ही धर्म है। सूक्ष्मदर्शी इस हिंसामय शरीर से अशरीरी होने का अर्थात् मोक्ष का ही धर्म सिखाता है[3]।

४—जिसे भय लगता है, जो संग्रह करता है, जो विषय में रत है, वह

१-अहिंसा प्रथम भाग पृ० ११५
२-अहिंसा प्रथम भाग पृ० ३२
३-अहिंसा प्रथम भाग पृ० ४१-४२

अवश्य ही हिंसामय युद्ध करेगा। लेकिन उसका वह धर्म नहीं है। धर्म तो एक ही है। अहिंसा के मानी हैं मोक्ष और मोक्ष सत्यनारायण का साक्षात्कार है[1]।

५—सिद्धान्त को ढूँढने में कोई मुश्किल नहीं होती है। उसका केवल अमल करने में ही सभी मुश्किलें आ पड़ती हैं। इसलिए सिद्धान्त तो इस विषय में पूर्ण हैं। उनका अमल करने वाले हम मनुष्य अपूर्ण हैं। अपूर्ण के द्वारा पूर्ण का अमल होना अशक्य होने के कारण, प्रतिक्षण सिद्धान्त के उल्लंघन की नई मर्यादा ठीक करनी पड़ती है। इससे हिन्दू-शास्त्र में कह दिया गया है कि यज्ञार्थ की हुई हिंसा, हिंसा नहीं होती। यह अपूर्ण सत्य है। हिंसा तो सभी समय हिंसा ही रहेगी और हिंसा-मात्र पाप है। किन्तु जो हिंसा अनिवार्य हो पड़ती है उसे व्यवहार-शास्त्र पाप नहीं मानता। इसलिए यथार्थ की गई हिंसा का व्यवहार-शास्त्र अनुमोदन करता है और उसे शुद्ध पुण्य-कर्म मानता है[2]।

६—लेकिन जिस प्रकार लौकिक राजा के कानून में अपराधी अज्ञान के कारण दण्ड से बचता नहीं है, वही हाल अलौकिक राजा के नियमों का भी है[3]।

७—मैं छोटे से छोटे सजीव प्राणी को मारने के उतना ही विरुद्ध हूँ, जितना लड़ाई के। किन्तु मैं निरन्तर ऐसे जीवों के प्राण इस आशा में लिए चला जाता हूँ कि किसी दिन मुझमें यह योग्यता आ जाएगी कि मुझे यह हत्या न करनी पड़े। यह सब होते रहने पर भी अहिंसा का हिमायती होने का मेरा दावा सही होने के लिए यह परमावश्यक है कि मैं इसके लिए सचमुच में जी-जान से और अविराम प्रयत्न करता रहूँ। मोक्ष अथवा सशरीरी अस्तित्व की आवश्यकता से मुक्ति की कल्पना का आधार है संपूर्णता को पहुँचे हुए पूर्ण अहिंसक स्त्री-पुरुषों की आवश्यकता। सम्पत्ति-मात्र के कारण कुछ न कुछ हिंसा करनी पड़ती है। शरीर रूपी सम्पत्ति की रक्षा के लिए भी चाहे जितनी थोड़ी, किन्तु हिंसा करनी ही पड़ती है[4]।

श्रद्धा के आलोक में जो सत्य उपलब्ध होता है, वह बुद्धि या तर्क-वाद के आलोक में नहीं होता। महात्मा गाँधी के पास श्रद्धा का अमित बल था। वे ईश्वर के प्रति अत्यन्त श्रद्धाशील थे। उनका ईश्वर था सत्य। आचार्य भिक्षु भी भगवान् के प्रति श्रद्धालु थे। उनका भगवान् था संयम।

जो सत्य है वही संयम है और जो संयम है वही सत्य है।

१-अहिंसा प्रथम भाग पृ० ४२
२-अहिंसा प्रथम भाग पृ० ५३
३-अहिंसा प्रथम भाग पृ० ६१
४-अहिंसा प्रथम भाग पृ० ६८

भगवान् महावीर की भाषा में—"जो सम्यक् है वही मौन है और जो मौन है वही सम्यक् है[१]।" भगवान् महावीर संयम के प्रतीक थे। उन्होंने वही कार्य करने की आज्ञा दी जिसमें संयम था। उनकी आज्ञा और संयम में कोई भेद नहीं है। उनकी आज्ञा है वही संयम है और जो संयम है वही उनकी आज्ञा है।

धर्मदासगणी ने लिखा है कि भगवान् की आज्ञा से ही चारित्र की आराधना की जाती है। उसका भंग करने पर क्या भग्न नहीं होता? जो आज्ञा का अतिक्रमण करता है वह शेष कार्य किसकी आज्ञा से करेगा[२]?

आचार्य भिक्षु ने आज्ञा को व्यावहारिक रूप दिया। उनके संगठन का केन्द्र-बिन्दु आज्ञा है। उनकी भाषा में आज्ञा की आराधना संयम की आराधना है और उसकी विराधना संयम की विराधना है। उनका संगठन विश्व के सभी संगठनों से शक्तिशाली है। उसका शक्ति-स्रोत है आचार। आचार्य भिक्षु के शब्दों में भगवान् महावीर की आज्ञा का सार है—आचार। आचार शुद्ध होता है तो विचार स्वयं शुद्ध हो जाते हैं। विचारों में आग्रह या अपवित्रता तभी आती है, जब आचार शुद्ध नहीं होता। "आचारवान् से मिलो, अनाचारी से दूर रहो"—आचार्य भिक्षु के इस घोष ने संगठन को सुदृढ़ बना दिया। "श्रद्धा या मान्यता मिले तो साथ रहो, जिनसे वह न मिले, उन्हें साथ रखकर संगठन को दुर्बल मत बनाओ"—आचार्य भिक्षु के इस सूत्र ने संगठन को प्राणवान् बना दिया। एक ध्येय, एक विचार, एक आचार और एक आचार्य—यह है संक्षेप में उनके संगठन का आन्तरिक स्वरूप। आचार्य भिक्षु ने इसकी सदा याद दिलाई कि :

१—साधुओं का साध्य है आत्म-मुक्ति अर्थात् पूर्ण पवित्रता की उपलब्धि।
२—उनकी साधना है अहिंसा, जो स्वयं पवित्र है।
३—उसका साधन है आत्मानुशासन, जो स्वयं पवित्र है।

यह साध्य, साधना और साधन की पवित्रता साधु-समाज का नैसर्गिक रूप है। इसमें कोई बाधा उत्पन्न न हो इसलिए आचार्य भिक्षु ने एक संगठन का

१-आचाराङ्ग ५ : ३
जं सम्मंति पासह तं मोणंति पासहा, जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा।

२-उपदेशमाला श्लोक ५०५ :
आणाए च्चिय चरणं, तब्भंगे जाण किं न भग्गंति ? ।
आणं च अइक्कंतो, कस्साएसा कुणइ सेसं ? ॥ ५०५ ॥

सूत्रपात किया। चारित्र विशुद्ध रहे, साधु, शिष्यों के लोलुप न बनें और परस्पर प्रगाढ़ प्रेम रहे—यही है उनकी संघ-व्यवस्था का उद्देश्य[1]।

संगठन अच्छा भी होता है और बुरा भी। शक्ति का स्रोत होने के कारण वह अच्छा होता है। उससे साधना की गति अबाध नहीं रहती, इसलिए वह बुरा भी होता है। साधना कुण्ठित वहाँ होती है, जहाँ अनुशासन आरोपित होता है। आत्मानुशासन से चलने वाला संगठन साधना में कुण्ठा नहीं लाता।

आचार्य भिक्षु का संगठन केवल शक्ति-प्राप्ति के लिए नहीं है। वह आचार-शुद्धि के लिए है। आचार्य भिक्षु की दृष्टि में आचार की भित्ति पर अवस्थित संगठन का महत्त्व है। उससे विहीन संगठन का धार्मिक मूल्य नहीं है।

आचार्य भिक्षु के अनेक रूप हैं। उनमें उनके दो रूप बहुत ही स्पष्ट और प्रभावशाली हैं :

१—विचार और चारित्र-शुद्धि के प्रवर्तक

२—संघ-व्यवस्थापक

प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्हीं दो रूपों की स्पष्ट-अस्पष्ट रेखाएँ हैं। इस कार्य में मुनि मिलापचन्दजी, सुमेरमलजी, हीरालालजी, श्रीचन्दजी और दुलहराजजी सहयोगी रहे हैं। मैंने केवल लिखा और शेष कार्य उन्हीं का है। आचार्यश्री तुलसी की प्रेरणा या आशीर्वाद ही नहीं, उनके अन्तःकरण की कामना भी मुझे आलोकित कर रही थी। तेरापन्थ-द्विशताब्दी-समारोह पर उसके प्रवर्तक का परम यशस्वी और तेजस्वी रूप रेखाङ्कित हो, यह आचार्यश्री की तीव्र मनो-भावना थी। यह मेरा सौभाग्य है कि उसकी सफलता का निमित्त बनने का श्रेय मुझे दिया। आचार्यश्री की भावना और मेरे शब्दों से निर्मित आचार्य भिक्षु की जीवन-रेखाएँ पथिकों के लिए प्रकाश-स्तम्भ बनें।

२०१६ मृग शीर्ष वदि ३
श्री रामपुर
(रामपुरिया कॉटन मिल)

मुनि नथमल

१-लिखत १८३२

विषय-सूची

भिक्षु-विचार दर्शन

अध्याय : १

व्यक्तित्व की झाँकी

जन-परम्परा में आचार्य भिक्षु का उदय एक नये आलोक की सृष्टि है। वे (वि० १७८३) इस संसार में आए, (वि० १८०८) स्थानकवासी मुनि बने, (वि० १८१७) तेरापन्थ का प्रवर्तन किया और (वि० १८६०) इस संसार से चले गये

उनका जीवन तीन प्रकार की विशिष्ट अनुभूतियों का पुञ्ज है। मारवाड़ की शुष्क-भूमि में उनका मस्तिष्क कल्पतरु बन फल सका, यही उनकी अपनी विशेषता है। वे विद्यालय के छात्र नहीं बने, विद्या ने स्वयं उनका वरण किया। वे काव्य-कला के ग्राहक नहीं बने, कविता ने स्वयं उनके चरण चूमे। वे कल्पना के पीछे नहीं दौड़े, कल्पना ने स्वयं उनका अनुगमन किया।

मैं श्लाघा के शब्दों में उनके जीवन को ससीम बनाना नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ कि उनके असीम व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उनके विचारों से ही हो। मेरे पाठक, उनको केवल जैन-आचार्य की भूमिका में ही नहीं पढ़ पायेंगे, मैं उन्हें अनेक भूमिकाओं के मध्य में से लेता चलूँगा; चढ़ाव-उतार के लिये सन्तुलन उन्हें रखना होगा।

: १ : समय की सूझ

व्यक्ति में सबसे बड़ा बल श्रद्धा का होता है। श्रद्धा टूटती है तो पैर थम जाते हैं, वाणी रुक जाती है और शरीर जड़ हो जाता है। श्रद्धा बनती है तो ये सब गतिशील बन जाते हैं। एक ठाकुर साहब और भीखणजी मार्ग में साथ-साथ जा रहे थे। ठाकुर साहब को तम्बाकू का व्यसन था। बीच में ही तम्बाकू निबट गई। उनके पैर लड़खड़ाने लगे। भीखणजी ! तम्बाकू के बिना

चलना बड़ा कठिन हो रहा है। तुम्हें कहीं रुकना पड़ेगा, ठाकुर साहब ने कहा। भीखणजी ने सोचा, आगे दूर जाना है। साथी को जंगल में अकेले छोड़ना भी उचित नहीं। तम्बाकू के बिना ये चल नहीं सकेंगे। भीखणजी ने कहा—ठाकुर साहब धीमे-धीमे चलिए। दिन थोड़ा है। मैं तम्बाकू की खोज करता हूँ, कहीं आस-पास में किसी पथिक के पास मिल जाए। ठाकुर साहब को थोड़ा साहस बँधा। वे धीमे-धीमे आगे चले। भीखणजी पीछे रह गये। उन्होंने एक कण्डा जलाया और उसकी बुकनी की पुड़िया ठाकुर साहब के हाथ थमा दी। ठाकुर साहब जम्हाइयाँ ले ही रहे थे। उस पुड़िया को खोलते ही खिल उठे। भीखणजी ने कहा—अच्छी तो नहीं मिली है। बहुत ही साधारण है, पर काम चल जाएगा। ठाकुर साहब ने थोड़ी सी—चुटकी भर सूँघी और सहसा बोल उठे—भीखणजी यह तो बहुत अच्छी है। ठाकुर साहब की गति में वेग आ गया। मार्ग कटता गया। वे दिन रहते-रहते अपने घर पहुँच गये[1]।

: २ : श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय

मारवाड़ का यह चाणक्य, थोड़े ही समय के बाद धर्मदूत बन गया। जोधपुर राज्य के मन्त्री विजय सिंह जी आचार्य भिक्षु के पास आये। विश्व सादि-सान्त है या अनादि-अनन्त, यह प्रश्न पूछा। आचार्य भिक्षु ने उन्हें इसका समाधान दिया। संतोषजनक समाधान पाकर मन्त्री ने कहा—आपकी बुद्धि कई राज्यों का संचालन करे, वैसी है। मन्त्री की इस प्रशंसा का उत्तर आचार्य भिक्षु ने एक पद्य में दिया जो इस प्रकार है :

बुद्धि वाही सराइये, जो सेवे जिन-धर्म।
वा बुद्धि किण कामरी, जो पड़िया बांधे कर्म॥

वही बुद्धि सराहने योग्य है जो धर्म के आचरण में लगे, मुक्ति का मार्ग ढूँढे। वह बुद्धि व्यर्थ है जिससे बंधन बढ़े[2]।

सन्त की अमर वाणी आज के बुद्धिमान को चुनौती दे रही है।

: ३ : रूढ़िवाद पर प्रहार

कहीं श्रद्धा होती है, बुद्धि नहीं होती ; कहीं बुद्धि होती है, श्रद्धा नहीं होती। कहते हैं, श्रद्धा अन्धी होती है, बुद्धि लंगड़ी। श्रद्धालु चलता है और बुद्धिमान देखता है। ये दोनों अधूरे हैं। पूर्णता इनके समन्वय से आती है। साधक अपने आपको पूर्ण नहीं मानता ; वह सिद्ध होने पर ही पूर्ण होता है। पर,

१-दृष्टान्त : १११
२-दृष्टान्त : ११२

जिसके जीवन में श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय हो उसकी गति साध्य की दिशा में होती है, इसलिए उसे पूर्ण कहा जा सकता है। आचार्य भिक्षु का जीवन श्रद्धा और बुद्धि के समन्वय का सुन्दर उदाहरण है।

भीखणजी का विवाह हो चुका था। एकबार वे ससुराल गये। भोजन का समय हुआ। खाने की थालियाँ परोसी गईं। खाना शुरू नहीं हुआ उसके पहले ही गालियाँ गाई जाने लगीं। दामाद ससुर के घर जब खाना खाता है तब स्त्रियाँ उसे गालियों के गीत सुनाती हैं, यह मारवाड़ की चिर-प्रचलित प्रथा है। कुल-वधुओं ने गाया-"ओ कुण कालो जी कानरो"। भीखणजी का साला लंगड़ा था। उन्होंने व्यंग की भाषा में कहा—जहाँ अन्धे और लंगड़े को अच्छा और अच्छों को अन्धा और लंगड़ा बताया जाता है वहाँ का भोजन किया जाय ? थाली परोसी ही रही, भीखणजी बिना कुछ खाये उठ खड़े हुए। रूढ़िवाद उन्हें अपने बाहुपाश में जकड़ नहीं सका[१]।'

: ४ : अन्धविश्वास का मर्मोद्घाटन

दूसरे प्रान्तों में 'मारवाड़ी' का अर्थ है राजस्थानी। किन्तु राजस्थान में 'मारवाड़ी' का अर्थ जोधपुर राज्य का वासी है। इस राज्य के एक प्रदेश का नाम कांठा है। वहाँ एक छोटा सा कस्बा है कंटालिया। वहाँ किसी के घर चोरी हो गई। चोर का पता नहीं चला, तब उसने बोरनदी से एक कुम्हार को बुला भेजा। वह अन्धा था। फिर भी चोरी का भेद जानने के लिए लोग उसे बुलाते थे। 'उसके मुँह से देवता बोलता है', इस रूप में उसने प्रसिद्धि पाली थी। कुम्हार आया और भीखणजी से पूछा—चोरी का सन्देह किस पर है ? भीखणजी इसकी ठग-विद्या की अन्त्येष्टि करना चाहते ही थे। इस अवसर का लाभ उठाकर उन्होंने कहा—भाई ! सन्देह तो मजने पर है। रात गई और कुम्हार अखाड़े में आया। लोग इकट्ठे हो गये। उसने देवता को अपने शरीर में बुलाया। शरीर काँप उठा। 'डाल दे, डाल दे' कहकर वह चिल्लाया। उसकी चिल्ल-पों से वातावरण में एक प्रतीक्षा का भाव भर गया, पर चोरी के धन को लौटाने कोई नहीं आया। तब, 'नाम प्रकट करो, नाम प्रकट करो' की आवाजें आने लगीं। कुम्हार का देवता बोल उठा—"गहना मजने ने चुराया है, मजने ने चुराया है, मजने ने चुराया है"। वहाँ एक अतीत बैठा था। उसने अपने डण्डे को आकाश में घुमाते हुए कहा—'मजना मेरे बकरे का नाम है, उस पर झूठा आरोप लगाता है ! इसबार उसका नाम लिया तो फिर लोग कुछ और ही देखेंगे।' उसकी ठग-विद्या की कलई खुल गई। लोग उसे कोसने लगे। भीखणजी ने

१-दृष्टान्त : १०५

कहा—इसे कोसने की क्या जरूरत है। मूर्ख तुम हो। चोरी आँखवालों के घर हुई है और उसका पता लगाने को तुम अन्धे को बुलाते हो। गहना कैसे आयेगा[१] ?

ठग-विद्या का मर्मोद्घाटन करना भीखणजी का जीवन-मंत्र था। इसकी आदि और अन्त नहीं है। जीवन का मंत्र सदा जीवन के साथ चलता है।

: ५ : अदम्य उत्साह

धर्म का क्षेत्र भी ठग-विद्या से अछूता नहीं था। बहुत सारे लोग साधु बनकर भी साधुता को नहीं निभाते थे। वे कलिकाल का नाम ले, लोगों को भरमाते थे। पाँचवाँ आरा है, अभी पूरा साधुपन पाला नहीं जा सकता, इसकी ओट में बहुत सी बुराइयाँ पलती थीं। आचार्य भिक्षु ने कहा—उधार साहूकार भी लेता है और दिवालिया भी लेता है। खत दोनों के लिये लिखा जाता है—महाजन जब माँगेगा तभी उसका धन लौटा दिया जायेगा। परन्तु साहूकार और दिवालिये की पहचान माँगने पर होती है। जो साहूकार होता है वह व्याजसहित मूलधन दे देता है। जो दिवालिया होता है वह मूल पूँजी भी नहीं देता। भगवान् ने जो कहा उसका पालन करनेवाला साधु है और पाँचवें आरे का नाम लेकर भगवान् की वाणी का उल्लंघन करनेवाला असाधु है[२]।

आचार्य भिक्षु के गुरु आचार्य रुघनाथ जी थे। उन्होंने कहा—भीखणजी अभी पाँचवाँ आरा है, इस काल में कोई भी दो घड़ी का साधुपन पाल ले तो वह सर्वज्ञ हो जाये। आचार्य भिक्षु ने कहा—यदि दो घड़ी में ही सर्वज्ञता प्राप्त होती है तो इतने समय तक तो मैं स्वास बंद कर भी रह जाऊँ[२]।

सदाचार उसी के पीछे चलता है जो देश, काल और परिस्थिति के सामने नहीं झुकता।

: ६ : स्वतन्त्र चिन्तन

एक वैद्य ने आँख के रोगी की चिकित्सा शुरू की। कुछ दिन बीते। आँख ठीक हो गई। वैद्य ने बधाई माँगी। रोगी ने कहा—मैं पंचों से पूछूँगा। वे कहेंगे—मेरी आँखें ठीक हो गई हैं, मुझे दिखाई देने लगा

१-दृष्टान्त : ७६

२-दृष्टान्त : १०८

है, तो मैं तुम्हें बधाई दूँगा ; नहीं तो नहीं। वैद्य—तुझे दीखता है या नहीं ? रोगी—मुझे भले ही दीखे, पर जब पंच कह देंगे कि तुझे दीखता है, बधाई तब ही मिलेगी।

आचार्य भिक्षु ने इस उदाहरण के द्वारा अन्धानुसरण करनेवालों व दूसरों पर ही निर्भर रहनेवालों का चित्र ही नहीं खींचा, उन्होंने उनकी पूरी खबर भी ली। उनकी विचारधारा स्वतंत्र थी। उन्होंने अनेक धर्माचार्यों को परखा। आखिर स्थानकवासी सम्प्रदायके आचार्य रुघनाथ जी के शिष्य बने। आठ वर्ष तक उनके सम्प्रदाय में रहे। उनकी परीक्षा-पटु बुद्धि को वहाँ भी सन्तोष नहीं मिला। वे मुक्त होकर चल पड़े। ज्ञानवान व्यक्ति केन्द्र होता है। उसके आसपास समाज स्वयं बन जाता है। आचार्य भिक्षु की अनुभूतियों के आलोक में तेरापंथ नामक गण का प्रारम्भ हो गया।

: ७ : मोह के उस पार

बुआ ने कहा—भीखण तू ! दीक्षा लेगा तो मैं पेट में कटारी खाकर मर जाऊँगी। भीखणजी ने कहा—कटारी पूनी नहीं है, जिसे पेट में खाया जाय[1]।

बुआ को मोह से उबारा, वे उसके मोह में नहीं फँसे।

भीखणजी के पिता, शाह बल्लूजी इस संसार से चल बसे। माता दीपां बाई उन्हें दीक्षा लेने की अनुमति नहीं दे रही थी। आचार्य रुघनाथजी ने दीपां बाई को समझाया। बहुत चर्चा के बाद उनकी अन्तरात्मा बोल उठी—मैंने सिंह का सपना देखा, जब यह मेरे गर्भ में था। यह राजा होगा। मैं इसे मुनि होने की अनुमति कैसे दे सकती हूँ ? आचार्य ने कहा—मुनि राजा से बहुत बड़ा होता है। तेरा पुत्र मुनि—सिंह बने, इसमें तुझे क्या आपत्ति है ? आचार्य की बात दीपां बाई के गले उतर गई और भीखणजी रुघनाथजी के शिष्य बन गये।

: ८ : विश्वास विफल नहीं होता

राजनगर मेवाड़ का प्रसिद्ध कस्बा है। उसकी प्रसिद्धि का कारण 'राज समंद' है। यह बाँध बहुत बड़ा नहीं है तो बहुत छोटा भी नहीं है। इसकी अपनी विशेषता है पाल। दुर्ग जैसे अनेक प्राकारों से घिरा होता है वैसे ही उस बाँध का जल अनेक सेतुओं से घिरा हुआ है। "नोचाकिया" वास्तु-कला का निदर्शन है। जल की किल्लोलें भीतों से टकराती हैं वैसे ही दर्शक के मन से प्रमोद टकराने लग जाता है।

१-दृष्टान्त : २४०

राजनगर सन्त भीखणजी का बोधि-क्षेत्र है। वहाँ उन्हें नया आलोक मिला और आलोकमय पथ पर चलने की क्षमता मिली।

राजनगर के श्रावकों ने विद्रोह कर दिया। वे मुनियों की वन्दना नहीं करते। उन्हें समझाने के लिए तुम जाओ, रघनाथजी ने सन्त भीखणजी को आदेश दिया। वे अपने चार सहयोगी मुनियों के साथ राजनगर की ओर चले। चातुर्मास प्रारम्भ हुआ। सन्त भीखणजी ने श्रावकों को सुना। श्रावक उनकी श्रद्धा, बुद्धि और वैराग्य पर विश्वास करते थे। इसलिए उन्होंने जो कहा उस पर तर्क को आगे नहीं बढ़ाया। विश्वास विफल नहीं होता। श्रावकों की बात सन्त भीखणजी ने सिर पर ओढ़ ली थी। उन्होंने मन ही मन सोचा—क्या हमलोग आचार-शिथिल नहीं हैं? कलिकाल की दुहाई देकर क्या हम महाव्रतों की यत्र-तत्र अवहेलना नहीं करते? उनकी आत्मा को कँपन-ज्वर हो गया और उस दशा में उनके संकल्प ने नया मार्ग ढूँढ़ लिया। श्रावकों का विश्वास विफल नहीं हुआ।

: ९ : आलोचना

कड़वी दवा भी लोग पीते हैं और वैद्य पिलाते हैं। दवा कड़वी है, यह दोष नहीं है। दवा की कसौटी रोग मिटाने की क्षमता से की जाती है, कड़ुवापन या मिठास से नहीं। आपके प्रयोग बहुत कड़वे हैं, एक व्यक्ति ने कहा।

आचार्य भिक्षुने मुस्काते हुए उत्तर दिया—गम्भीर वात का रोग है। वह सुई का दाग देने से कैसे मिटे? उसे मिटाने के लिए कुश का ही दाग देना होता है[1]।

आचार्य भिक्षु ने आचारकी शिथिलता और विचारों के धुंधलेपन पर गहरा प्रहार किया। उनकी भाषा कठोर है, नुकीली है, और है चुभनेवाली; पर उसमें आत्मा की आवाज है, वेदना की अभिव्यक्ति है, अन्तर और भीतर की एकता है।

: १० : जागरण

राजस्थान में ब्याह आदि कुछ प्रसंगों पर रात्रि-जागरण—राति जोगों की प्रथा है। आचार्य भिक्षु ने रूपान्तर में इस प्रथा को निभा ही लिया। पाली की घटना है। रात को व्याख्यान दिया। चौकी पर बैठे थे। व्याख्यान पूरा हुआ, लोग चले गए। दो आदमी खड़े-खड़े चर्चा करते रहे। आचार्य भिक्षु उन्हें उत्तर देते रहे। और साधु सो रहे थे। रात का पिछला प्रहर

१-दृष्टान्त : ६६

आया। उन्होंने साधुओं को जगा दिया। साधुओं ने पूछा—आपकी नींद कब खुली? आपने कहा—कोई सोया भी तो हो[1]।

सोने के लिये जागनेवाले बहुत होते हैं पर जागरण के लिये जागनेवाले विरले ही होते हैं।

: ११ : आचार-निष्ठा विचार

संसार में सब एकरूप नहीं होते। कुछ लेने का होता है, कुछ छोड़ने का। जानने का सब होता है। जो छोड़ने का हो उसी को छोड़ा जाए, शेष को नहीं; जीवन की सफलता का यह एक मन्त्र है।

एक बहन आई और आचार्य भिक्षु को भिक्षा लेने की प्रार्थना कर चली गई। यह काम कई दिनों तक चलता रहा। एक दिन आचार्य भिक्षु भिक्षा लेने उसके घर गये। आपने पूछा—तू भिक्षा देने के बाद हाथ ठंडे जल से धोएगी या गर्म से? बहन—गर्म से। आचार्य भिक्षु—कहाँ धोएगी? बहन—खुले नाली में। आचार्य—वह जल कहाँ जाएगा?

बहन—नीचे।

आचार्य—इससे तो अनेक जीव मर सकते हैं या मर जायेंगे। इसलिए मैं तुम्हारे हाथ से भिक्षा नहीं ले सकता।

बहन—आप भिक्षा ले लें। मैं हाथ कैसे और कहाँ धोऊँगी, इसकी चिन्ता क्यों करते हैं? मैं भिक्षा देकर हाथ धोती हूँ, उसे भला कैसे छोड़ूँगी?

आचार्य—तो रोटी के लिए मैं अपना आचार क्यों तोड़ूँगा[2]?

एक आत्मस्थ व्यक्ति को जो आनन्दानुभूति आचारनिष्ठ रहने में होती है, वह रोटी जुटाने में नहीं होती। आचार के लिए रोटी को ठुकराने में जो पुरुषार्थ है वह रोटी के लिये आचार को ठुकराने में समाप्त हो जाता है।

: १२ : व्यक्तिगत आलोचना से दूर

आलोचना दोष की होनी चाहिए और प्रशंसा गुण की। किसी व्यक्ति की आलोचना करनेवाला अपने लिए खतरा उत्पन्न करता है। आलोच्य के लिये वह न भी हो; प्रशंसा करनेवाला प्रशस्य व्यक्ति के लिये खतरा उत्पन्न करता है। आचार्य भिक्षु ने बहुत आलोचना की। उनकी हर आलोचना में क्रान्ति का बोध है। पर व्यक्तिगत आलोचना से जितने वे बचे उतना विरला ही बच सकता है।

१-दृष्टान्त : ५३

२-दृष्टान्त : ३२

एक आदमी ने पूछा—महाराज ! इतने सम्प्रदाय हैं जिनमें कौन साधु है और कौन असाधु ?

आचार्यवर ने कहा—एक अन्धा मनुष्य था। उसने वैद्य से पूछा—नगर में नग्न कितने हैं और कपड़े पहननेवाले कितने ? वैद्य बोला—यह दवा लो, आँख में डाल लो। मैं तुम्हें दृष्टि देता हूँ, फिर तुम ही देख लेना—नग्न कितने हैं और कपड़े पहननेवाले कितने।

आपने कहा—साधु और असाधु की पहचान मैं बता देता हूँ; फिर तुम्हीं परख लेना—कौन साधु है और कौन असाधु।

नाम लेकर किसी को असाधु कहने से झगड़ा खड़ा हो जाता है।

दृष्टि मैं देता हूँ और मूल्यांकन तुम्हीं कर लेना[1]।

एक समय किसी दूसरे व्यक्ति ने ऊपर का कथन दोहराया।

आपने कहा—एक आदमी ने पूछा—इस शहर में साहूकार कौन है और दिवालिया कौन ? उत्तरदाता ने कहा—मैं किसे साहूकार बताऊँ और किसे दिवालिया ? मैं तुम्हें गुण बताये देता हूँ—जो लेकर वापस दे दे वह साहूकार, जो लेकर वापस न करे और माँगने पर झगड़ा करे, वह दिवालिया। परीक्षा तुम्हीं कर लेना—कौन साहूकार है और कौन दिवालिया ?

आपने कहा—मैं तुम्हें लक्षण बता देता हूँ—जो महाव्रतों को ग्रहण कर उनका पालन करे, वह साधु और जो उन्हें न निभाये वह असाधु। परीक्षा तुम्हीं कर लेना, कौन साधु है और कौन असाधु[2] ?

: १२ : सिद्धान्त और आचरण की एकता

विधान दूसरों के लिए होता है, अपने लिए नहीं, वहाँ वह जी कर भी निर्जीव बन जाता है। जो महान् होता है वह सबसे पहले विधान को अपने ऊपर ही लागू करता है।

एक दूसरे सम्प्रदाय का साधु आया और आचार्य भिक्षु को एकान्त में ले गया। आपने थोड़े समय तक बातचीत की और लौट आये।

हेमराजजी स्वामी आपके दाँये हाथ थे। उन्होंने पूछा—गुरुदेव ! वह किसलिए आया था और उसने क्या बातचीत की ?

आपने कहा—वह किसी दोष का प्रायश्चित लेने आया था।

हेम०—किस दोष का ?

१-दृष्टान्त : ९९

२-दृष्टान्त—१००

आ०—मैं नहीं बता सकता[1]।

व्यवस्था के पालन के लिए अपने प्रिय शिष्य की भी उपेक्षा कर देनी चाहिए, यह बहुत बड़ा सिद्धान्त नहीं है, पर बहुत बड़ा कार्य है। जहाँ सिद्धान्त की गुरुता कार्य की गहराई में लीन हो जाती है, वहाँ कार्य और सिद्धान्त एक दूसरे में चमक ला देते हैं।

: १४ : अकिञ्चन की महिमा

सामग्री चौंधिया देती है, पर प्रथम दर्शन में। आदि से अन्त तक व्यक्ति का तेज ही चमकता है। उपकरण किसी के अन्तर को नहीं छू सकता। आचार्य भिक्षु पुर से भीलवाड़ा जा रहे थे। उन्होंने बीच में एक जगह विश्राम लिया। ढूँढाड का एक आदमी आ मिला। उसने पूछा—आपका नाम क्या है? आपने कहा—मेरा नाम भीखण है।

वह बोला—भीखण जी की महिमा तो बहुत सुनी है। फिर आप अकेले ही पेड़ के नीचे कैसे बैठे हैं? मेरी कल्पना तो थी कि आपके पास बहुत आडम्बर होगा—हाथी, घोड़े, रथ और पालकियाँ होंगी; पर कुछ नहीं देखता हूँ।

आप—महिमा इसीलिए तो है कि मेरे पास आडम्बर नहीं है, कुछ भी नहीं है[2]।

आचार्य भिक्षु उसके अन्तरतम के देवता हो गए।

अन्तरतम उसी के लिए सुरक्षित रह सकता है जो बाहरी सुरक्षा की चिन्ता से मुक्त होता है। सच तो यह है कि सुरक्षा बाहर में है भी नहीं। आचार्य भिक्षु अन्तर की सुरक्षा से इतने आश्वस्त थे कि बाहरी सुरक्षा का प्रयत्न उनके लिए मूल्यहीन बन गया था।

: १५ : जहां बुराई-भलाई बनती है

विश्व में अनेक घटनाएँ घटती हैं—कोई अनुकूल और कोई प्रतिकूल। अनुकूल घटना में मनुष्य फूलकर कुप्पा हो जाता है और प्रतिकूल घटना में सिकुड़ जाता है। यह तटस्थवृत्ति के अभाव में होता है। तटस्थ व्यक्ति समभावी होता है। उसका मन इतना बलवान हो जाता है कि वह अप्रिय को प्रिय मानता है और असम्यक् को सम्यक् रूप में ग्रहण करता है।

आचार्य भिक्षु पाली में चतुर्मास करने आये। एक दुकान में ठहरे। एक सम्प्रदाय के आचार्य दुकान के मालिक के पास गए। उनकी पत्नी से

१-दृष्टान्त : ५७

२-दृष्टान्त : १२५

कहा—बहन तू ने दुकान दी है पर चौमासा शुरू होने के बाद चार मास तक भीखण जी इसे छोड़ेंगे नहीं। वह आचार्य भिक्षु के पास आई। उसने कहा—मेरी दुकान से चले जाएँ। आचार्यवर ने कहा—हम जबर्दस्ती रहनेवाले नहीं हैं। तू जभी कहेगी तभी चले जायेंगे। चतुर्मास में भी हम दुकान को छोड़ सकते हैं। बहन ने कहा—मुझे तुम्हारे जैसे ही कह गये हैं कि चौमासा शुरू होने पर दुकान नहीं छोड़ेंगे। इसलिए मैं दुकान में रहने की अनुमति नहीं दे सकती।

आचार्य भिक्षु उस दुकान को खाली कर दूसरी जगह चले गये। दिन में मढ़ैया में रहते और रात को नीचे दुकान में व्याख्यान देते। लोग बहुत आते।

प्रकृति रूप बदलती रहती है। राजस्थान में वर्षा कम होती है, लेकिन इस वर्ष बरसात ने सीमा तोड़ दी। प्रकृति का प्रकोप बहुतों को सहना पड़ा। उस दुकान को भी सहना पड़ा जिसमें आचार्य भिक्षु पहले ठहरे थे। उसका शहतीर टूट गया। दुकान ढह गई। आचार्य भिक्षु ने यह सुना तो बोल उठे—दुकान से निकालने की प्रेरणा की, उन पर सहज क्रोध आ सकता है। परन्तु सही माने में उन्होंने हमारा उपकार किया। यदि आज हम उस दुकान में होते तो...[1]।

बुराई करनेवाला अवश्य ही बुरा होता है। पर बहुत अच्छा तो वह भी नहीं होता जो बुराई के भार से दब जाए। बुराई को पैरों से रौंदकर चलनेवाला ही अपने मन को मजबूती से पकड़ सकता है।

: १६ : क्षमा की सरिता में

अमृत को जहर बनानेवाले कितने नहीं होते, किन्तु जहर को अमृत बनानेवाले विरले ही होते हैं। जहर को अमृत वही बना सकता है जिसमें जहर न हो।

एक सम्प्रदाय के साधु... और आचार्य भिक्षु के बीच तत्त्व-चर्चा हो रही थी। प्रसंगानुसार आपने बताया—धर्म के लिए हिंसा करने में दोष नहीं, यह अनार्य वचन है ; यह भगवान् महावीर ने कहा है। प्रतिवादी साधु ने अपने शिष्य से कहा—अपनी प्रति ला। यह पाठ शुद्ध नहीं है। शिष्य से प्रति मँगवाकर देखा तो वही पाठ मिला जो बताया गया था। उनके हाथ काँपने लगे। तब आचार्यवर ने कहा—मुनि जी! हाथ क्यों काँप रहे हैं? जनता पाठ सुनने को उत्सुक है। आप सुनाइये न। उसने पाठ नहीं सुनाया। आचार्य भिक्षु ने कहा—हाथ में कंपन होने के चार कारण होते हैं :

१-कंपन वात ;

२-क्रोध का आवेश ;

१-दृष्टान्त : २

३-मैथुन का आवेश और

४-चर्चा में पराजय।

यह सुनकर मुनि जी ने कहा—साले का माथा काट डालूँ।

जहर को अमृत बनाते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा—मुनि, जगत की सारी स्त्रियाँ मेरी बहन हैं। आपके स्त्री है तो मैं आपका भी साला हो सकता हूँ, यदि आपकी स्त्री नहीं है, आप मुझे साला बनाते हैं तो आपको झूठ बोलने का दोष लगता है। आपने दीक्षा ली तब सभी जीवों को मारने का त्याग किया था। आपकी दृष्टि में मैं साधु भले ही न होऊँ, पर मनुष्य तो हूँ, एक प्राणी तो हूँ। दीक्षा लेते समय क्या मुझे मारने की छूट रखी[1]?

विरोध विनोद में बदल गया, जहर अमृत बन गया। लोग खिलखिला उठे। आवेश का दोष क्षमा की सरिता में बह गया।

: १७ : सत्य का खोजी

सत्य उसी के पल्ले पड़ता है जिसकी आत्मा पवित्र होती है। उसमें सत्य का ही आग्रह होता है, बाहरी उपकरणों का नहीं। एक दिन कुछ दिगम्बर जैन आचार्य भिक्षु के पास आये। उन्होंने कहा—महाराज आपका आचार और अधिक चमक उठे, यदि आप वस्त्र न पहनें। आपने कहा—आपलोगों की भावना अच्छी है पर मुझे श्वेताम्बर आगमों में विश्वास है। उन्हीं के आधार पर मैंने घर छोड़ा है। उनके अनुसार मुनि कुछ वस्त्र रख सकता है, इसीलिए मैं रखता हूँ। यदि मुझे दिगम्बर-आगमों में विश्वास हो जाय तो मैं उसी समय वस्त्रों को फेंक दूँ, नग्न हो जाऊँ[2]।

सत्य का शोधक जितना निश्चल होता है उतना ही नम्र। आचार्य भिक्षु ने जो नई व्याख्या की, उसके अंत में लिख दिया कि मुझे यह सही लगता है, इसलिये मैं ऐसा करता हूँ। किसी आचार्य और बहुश्रुति मुनि को यह सही न लगे तो वे इसमें परिवर्तन कर दें[3]।

यह बात वही लिख सकता है जिसे सत्य के नये उन्मेषों का ज्ञान हो। सत्य अनन्त है, वह शब्दों की पकड़ में नहीं आता। आग्रही मनुष्य उसे रुढ़ि बना देते हैं, किन्तु उसे पा नहीं सकते।

: १८ : जो मन को पढ़ सके

मनुष्य की आकृति जैसे भिन्न होती है, वैसे प्रतिभा भी भिन्न होती है।

१-दृष्टान्त : ६१ २-दृष्टान्त : ३१

३-मोंनें तो कवाड़्यां रो दोष न भासें, जाणें नें सुध ववहार।
जे निसंक दोष कवाड़्यां में जांणों, ते मत वहरजो लिगार रे ॥

कोई अपने मन की बात को भी पूरा नहीं समझ पाता और कोई दूसरों के मन की बात को भी पकड़ लेता है। दूसरों के हृदय को अपने हृदय में उड़ेलनेवाला उस दूरी को मिटा देता है जो मनुष्य-मनुष्य के बीच में है।

आचार्य भिक्षु आएँ तो मैं साध्वी बनूँ—एक बहन ऐसा बार-बार कहती रही। आप केलवा में आये। उस बहन को ज्वर हो गया। शाम को वह दर्शन करने आई। उसकी गति और बोली में शिथिलता थी। आपने उससे पूछा—बहन! क्या हुआ, यों धीमे-धीमे कैसे बोलती हो? वह बोली—गुरुदेव! आपका तो आना हुआ और मुझे ज्वर हो गया। आपने कहा—ज्वर दीक्षा के डर से तो नहीं आया है? बहन—मन में थोड़ा डर आया तो था। आप—दीक्षा कोई ऐसा खेल नहीं है जो हर कोई खेल ले[1]।

एक भाई ने कहा—गुरुदेव! साधु बनने की इच्छा है। आचार्यवर ने कहा—तेरा हृदय कोमल है। दीक्षा के समय घरवाले रोये तब तू भी रोने लग जाये तो? भाई बोला—गुरुदेव! आप सच कहते हैं, आँसू तो छलक पड़ेंगे।

आप—दामाद ससुराल से अपने घर लौटे तब उसकी स्त्री रोये, वैसे वह भी रो पड़े तो कैसा लगे?

कोई साधु बने तब उसके परिवारवाले रोये, यह स्वार्थ हो सकता है पर परमार्थ-पथ का अनुगामी भी उनके साथ-साथ रोने लगे तो वैराग्य की रीढ़ टूट जाती है[2]।

नेता का अर्थ होता है दूसरों को लेकर चलनेवाला। जो व्यक्ति नेता होकर भी दूसरों के मन को नहीं पढ़ सकता, वह दूसरों को साथ लिये नहीं चल सकता। दूसरों को साथ लेकर चलने के लिये जो चलता है वह दूसरों के मन को नहीं पढ़ सकता। दूसरों के मन को वह पढ़ सकता है जिसके मन की स्वच्छता में दूसरों के मन अपना प्रतिबिम्ब डाल सकें। जिसका मन इतना स्वच्छ होता है उसकी गति के साथ असंख्य चरण चल पड़ते हैं।

: १९ : व्यवहार-कौशल

अन्तर की शुद्धि का महत्त्व अपने लिये अधिक होता है, दूसरों के लिये कम। व्यवहार की कुशलता का महत्त्व अपने लिये कम होता है, दूसरों के लिये अधिक। अन्तर की शुद्धि के बिना कोरी व्यवहारकुशलता छलना हो जाती है और व्यवहारकुशलता के बिना अन्तर की शुद्धि दूसरों के लिये उपयोगी नहीं होती।

१-दृष्टान्त : ३६
२-दृष्टान्त : ३७

एक गाँव में साधु भिक्षा लेने के लिये गये। एक जाटनी के घर आटे का धोवन था। साधुओं के माँगने पर भी उसने नहीं दिया। साधु खाली झोली लिये लौट आये। आचार्य भिक्षु से कहा—जल बहुत है पर मिल नहीं रहा है।

आचार्य—क्यों ? क्या वह बहन देना नहीं चाहती ?

साधु— वह जो देना चाहती है वह अपने लिये ग्राह्य नहीं है और जो ग्राह्य है उसे वह देना नहीं चाहती है।

आ०— उसे धोवन देने में क्या आपत्ति है ?

साधु— वह कहती है, आदमी जैसा देता है वैसा ही पाता है। आटे का धोवन दूँ तो मुझे आगे वही मिलेगा। मैं यह नहीं पी सकती। यह साफ पानी है, आप ले लीजिये।

आचार्य भिक्षु उठे और साधुओं को साथ लेकर उसी घर गये। धोवन की माँग करने पर उस बहन ने वही उत्तर दिया जो वह पहले दे चुकी थी।

आचार्य— बहन तेरे घर में कोई गाय है ?

बहन— हाँ महाराज ! है।

आचार्य— तू उसे क्या खिलाती है ?

बहन— चारा, घास।

आचार्य— वह क्या देती है ?

बहन— दूध।

आचार्य— तब बहन ! जैसा देती है वैसा कहाँ मिलता है ? घास के बदले दूध मिलता है।

अब वह रुक नहीं सकी। जल का पात्र उठा, सारा जल साधुओं के पात्र में उड़ेल दिया[1]।

इस जगत में अनेक कलाएँ होती हैं। उनमें सबसे बड़ी कला है दूसरों के हृदय का स्पर्श करना। उस कला का मूल्य कैसे आँका जाए जो दूसरों के हृदय तक पहुँच ही नहीं पाती।

: २० : चमत्कार को नमस्कार

दुनियाँ चमत्कार को नमस्कार करती है। व्यक्ति नहीं पूजा जाता, शक्ति पूजी जाती है। पूर्णिमा के चाँद की पूजा नहीं होती, दूज का चाँद पूजा जाता है। सीधी बात पर ध्यान नहीं जाता, वक्रोक्ति सहसा मन को खींच लेती है। कवित्व एक शक्ति है। वक्रोक्ति से बढ़कर और काव्य का क्या चमत्कार होगा?

आचार्य भिक्षु पीपाड़ में चौमासा कर रहे थे। वहाँ जग्गू गाँधी उनके सम्पर्क

1-दृष्टान्त : ३४

में आया और उनका अनुयायी बन गया। कुछ लोगों ने कहा—स्वामीजी ! जग्गू गाँधी आपका अनुयायी बना, इस बात से अमुक सम्प्रदायवाले सभी लोगों को कष्ट हुआ है पर खेतसी लूणावत को तो बहुत ही कष्ट हुआ है। स्वामीजी बोले—विदेश से मौत का समाचार आने पर चिंता सब को होती है पर लम्बी कांचुली तो एक ही पहनती है[1]।

आचार्य भिक्षु व्याख्यान देते। कुछ लोगों को वह बहुत ही अच्छा लगता और कुछ उसका विरोध करते। जिनका विरोध था उन्होंने कहा—भीखण जी व्याख्यान देते हैं तब रात एक पहर से बहुत अधिक चली जाती है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—सुख की रात छोटी होती है पर दुःख की रात बहुत बड़ी लगती है[2]।

एक व्यक्ति ने कहा— स्वामी जी ! इधर आप व्याख्यान देते जा रहे हैं और उधर सामने बैठे हुए कुछ लोग आपकी निंदा करते जा रहे हैं। आपने कहा—यह आदत की लाचारी है। झालर बजने पर कुत्ता भौंकता है। वह यह नहीं समझता है कि यह विवाह के अवसर पर बज रही है या किसी के मर जाने पर। निंदा करनेवाला यह नहीं देखता कि यह ज्ञान की बात कही जा रही है या कुछ और। उसका स्वभाव निंदा करने का है सो कर लेता है[3]।

तत्त्व की चर्चा में लम्बाई होती है। काव्य की चर्चा लम्बी नहीं होती। उसकी समाप्ति वह एक ही वाक्य कर देता है जिसमें चुभने की क्षमता हो।

: २१ : विवाद का अन्त

एक रस्सी को पकड़ कर दो आदमी खींचते हैं—एक इधर और एक उधर। परिणाम क्या होता है ? रस्सी टूटती है। दोनों आदमी गिर जाते हैं। खिंचाव करनेवाला अर्थात् गिरनेवाला। जो खिंचाव को मिटाता है वह गिरने से उबार लेता है।

दो साधुओं में खींचातानी हो गई। वे आचार्य भिक्षु के पास आये। एक ने कहा—इसके पात्र में से इतनी दूर तक जल की बूँदें गिरती गईं। दूसरे ने कहा—नहीं, इतनी दूर तक नहीं गिरीं। तीसरा कोई साथ में नहीं था। दोनों अपनी-अपनी बात पर डटे रहे। विवाद नहीं सुलझा। तब आचार्यवर ने कहा—तुम दोनों रस्सी लेकर जाओ और उस स्थान को माप कर वापस आ जाओ।

१-दृष्टान्त : १७

२-दृष्टान्त : १८

३-दृष्टान्त : १९

दोनों के मन की नाप हो गई। पहले ने कहा—हो सकता है मेरे देखने में भूल रह गई हो। दूसरे ने कहा— हो सकता है मैं दूरी को ठीक-ठीक न पकड़ सका होऊँ। दोनों अपने-अपने आग्रह का प्रायश्चित कर गिरने से बच गये[1]।

दो साधु एक विवाद को लेकर आये। एक ने कहा—गुरुदेव यह रसलोलुप है। दूसरा बोला—मैं नहीं हूँ, रसलोलुपता इसमें है। वाणी का यह विवाद कैसे निपटे? स्वामीजी के समझाने पर भी वे समझ नहीं सके। आखिर आपने कहा—तुम दोनों मुझसे स्वीकृति लिये बिना विगय खाने का त्याग करो। जो विगय खाने की स्वीकृति पहले लेगा, वह कच्चा है और दूसरा पक्का। दोनों ने आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य किया। चार मास तक उन्होंने दूध दही, घी, मिठाई आदि कुछ नहीं खाये। पूरा चातुर्मास बीतने पर एक ने विगय खाने की स्वीकृति ली। विवाद की आँच मंद हो गई[2]।

'है' और 'नहीं' की चर्चा एक खतरनाक रस्सी है। इसमें हर आदमी के पैर उलझ जाते हैं। एक कहता है कि इसकी लम्बाई-चौड़ाई इतनी है, दूसरा कहता है—नहीं, इतनी नहीं है। एक कहता है—हम आज नौ बजे सोये; दूसरा कहता है नहीं, हम सवा नौ बजे सोए थे।

ऐसे विवादों का कोई अर्थ भी नहीं है तो कोई अंत भी नहीं है। इसका अंत वही ला सकता है जिसे अन्तर की अनुभूति में स्वाद आ जाए।

: २२ : जिसे अपने पर भरोसा है

वहाँ सारी भाषाएँ मूक बन जाती हैं, जहाँ हृदय का विश्वास बोलता है। जहाँ हृदय मूक होता है, वहाँ भाषा मनुष्य का साथ नहीं देती। जहाँ भाषा हृदय को ठगने का यत्न करती है वहाँ व्यक्ति विभक्त हो जाता है। अखंड व्यक्तित्व वहाँ होता है जहाँ भाषा और हृदय में द्वेध नहीं होता। आचार्य भिक्षु की आस्था बोलती थी। उनकी भावना एक ही देव की उपासना में सिमटी हुई थी। एक देव—कोई एक व्यक्ति नहीं, किन्तु वे सब व्यक्ति जो वीतरागमय हों, जिनके चारित्र में राग-द्वेष के धब्बे न हों। लोगों में स्वार्थ होता है। वे उसकी पूर्ति के लिये अनेक देवों की पूजा करते हैं। जिन्हें अपने ऊपर भरोसा नहीं होता वे पग-पग पर देवों की पूजा करते हैं। उस समय के लोग भी भैरव, शीतला आदि अनेक देवों की मनौती करते थे। आचार्य भिक्षु इसे मानसिक दुर्बलता बताते। प्रवचन-प्रवचन में इसका खंडन करते। एक दिन हेमराजजी स्वामी ने कहा—गुरुदेव! आप इन लौकिक देवताओं की पूजा

१-दृष्टान्त : १६७

२-दृष्टान्त : १६८

का खंडन करते हैं पर कहीं वे कुपित हो गये तो ? आपने व्यंग की भाषा में कहा—यह युग सम्यग्दृष्टि देवताओं का है। ये भैरव आदि कुपित होकर करेंगे भी क्या[1] ?

दूसरों पर अधिक भरोसा वही करता है जिसे अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं है। मनुष्य जाग कर भी सोता है, इसका यह मतलब है कि उसे अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं है। मनुष्य सोकर भी जागता है, इसका मतलब है कि उसे अपने आप पर भरोसा है। जिसे अपने पर भरोसा है वह सब कुछ है।

: २३ : पुरुषार्थ की गाथा

कहा जाता है—महापुरुषों की कार्य-सिद्धि उनके सत्त्व में होती है, उपकरणों में नहीं होती। प्राचीन खगोल-शास्त्री कहते हैं—सूर्य का सारथी लंगड़ा है। फिर भी वह असीम आकाश की परिक्रमा करता है।

पौराणिक कहते हैं—राम ने रावण को जीता और उनकी सहायता कर रही थी बन्दर-सेना।

आचार्य भिक्षु की साधन-सामग्री स्वल्पतम थी। एक बार उनके सहयोगी साधु छः ही रह गये थे। साध्वियाँ नहीं थीं। जैन-परम्परा में साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका ये चार तीर्थ कहलाते हैं। एक व्यक्ति ने कहा—भीखणजी का लड्डू पूरा नहीं है। आपने कहा—पूरा भले ही मत हो, पर है असली "चौगुणी" का[2]।

कुछ वर्षों के पश्चात् साध्वियाँ बनीं।

एक बार तेरह साधु थे। इसे लक्षित कर एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु के संघ का नाम "तेरापंथी" रख दिया। उन्हें अपने विचारों का अनुगामी समाज होने की परिकल्पना नहीं थी। नया सम्प्रदाय खड़ा करना उनका उद्देश्य भी नहीं था। वे आत्मशोधन के लिए चले थे। उनके साथ एक छोटी सी मंडली थी। आचार्य भिक्षु संख्या को नहीं मानते थे। उनका विश्वास गुण में था। उनके अनन्य सहयोगी और अनन्य विश्वासपात्र थे भारीमालजी।

भारीमाल ! हम आचार्य रुघनाथजी को छोड़ आए हैं। हमें नये सिरे से दीक्षा लेनी है। तुम्हारे पिता की प्रकृति बहुत उग्र है। हमें कठिनाइयों का सामना करना होगा। तुम्हारे पिता में उन्हें झेलने का सामर्थ्य नहीं है। इसलिये मैं उन्हें अपने साथ नहीं रख सकता। तुम्हारी क्या इच्छा है, मेरे साथ रहना चाहते हो या अपने पिता के साथ ?

१-दृष्टान्त : २७६
२-दृष्टान्त : २२

भारीमालजी ने दृढ़तापूर्वक आचार्य भिक्षु के साथ रहने की इच्छा व्यक्त की। मुझे आपका विश्वास है। साधुत्व में मेरी आस्था है। मेरे चरण आपके चरण-चिह्नों का ही अनुगमन करेंगे। मैं आपको छोड़कर कहीं नहीं जा सकता—भारीमालजी ने कहा।

आचार्य भिक्षु ने कृष्णोजी के सामने वही बात दोहराई। उन्होंने कहा—आप मुझे साथ नहीं रखेंगे तो मेरा पुत्र भी आपके साथ नहीं रह सकेगा।

आचार्य भिक्षु ने कहा—यह रहा तुम्हारा पुत्र, मैं इसे कब रोकता हूँ। तुम इसे ले जा सकते हो। कृष्णोजी हठपूर्वक भारीमालजी को अपने साथ लेकर दूसरी जगह चले गए। भारीमालजी उस समय चौदह वर्ष के थे पर उनकी आत्मा चौदह वर्ष की नहीं थी। उनके चिर-संचित संस्कार जाग उठे। पुत्र के सत्याग्रह के सामने पिता का आग्रह टूट गया। वे अपने पुत्र को साथ लिए आचार्य भिक्षु के निकट आये। नम्रभाव से कहा—गुरुदेव! यह आप ही की संपत्ति है। इसे आप ही सम्भालें। यह दो दिनों का भूखा-प्यासा है। इसे आप भोजन करायें, जल पिलायें। यह आप से बिछुड़कर जीवन-पर्यन्त अनशन करने पर तुला हुआ है। यह मेरे साथ नहीं रहना चाहता[1]।

फल में जो होता है वह सारा का सारा बीज में होता है। बीज आकार में ही छोटा होता है, प्रकार में नहीं। तेरापंथ के विकास का बीज आचार्य भिक्षु का जीवन था। उनके जीवन में समस्त-पद की वह सफलता है जिसमें अनेक विभक्तियाँ लीन हों। उनके जीवन में सिन्धु की वह गहराई है जिसमें असंख्य सरिताएँ समाहित हो सकती हैं।

उनके जीवन में क्षमा, बुद्धि, परीक्षा आदि ऐसे विशेष मनोभावों का संगम था जो सहज ही एक धर्म-क्रान्ति की भूमिका का निर्माण कर सका।

अध्याय : २

प्रतिध्वनि

: १ : धर्म-क्रान्ति के बीज

यह उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण की घटना है। राजपूताने की मरुस्थली में एक धर्म-क्रान्ति हुई। भारतीय—परम्परा में धर्म राजनीति से भिन्न रहा, इसलिए राज्य-व्यवस्था पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। समाज-व्यवस्था भी धर्म द्वारा परिचालित नहीं थी, इसलिए उसपर भी उसका प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु समाज में रहनेवाले उससे सर्वथा अछूते कैसे रह सकते थे? परम्परा के पोषक इसको सहन नहीं कर सके। उन्होंने आचार्य भिक्षु को विद्रोही घोषित कर दिया।

इस धर्म-क्रान्ति का निकट सम्बन्ध जैन-परम्परा से था। विरोध की चिनगारी वहीं सुलगी। आचार्य भिक्षु एवं उनके नवजात तेरापंथ पर तीव्र प्रहार होने लगे।

प्रहार करना आत्मसंयम की कमी का प्रतीक है। अप्रिय परिस्थिति बनने पर ही व्यक्ति के संयम का मूल्यांकन होता है। आचार्य भिक्षु जिस परम्परा से मुक्त हुए उनके लिए यह अप्रिय घटना थी और उनका उसके प्रति प्रहार करना भी अस्वाभाविक नहीं था। वह वैसे ही हुआ। पर वह एक अग्नि-शिखा थी। हवा के झोंके उसे बुझा नहीं सके। उसे जिन-वाणी का स्नेह और संयम की सुरक्षा प्राप्त थी। प्रतिरोध के उपरान्त भी वह प्रदीप्त होती गई। उसके आलोक में लोगों को 'तेरापंथ' की झाँकी मिली।

तेरापंथ और आचार्य भिक्षु आज भी भिन्न नहीं हैं किन्तु उस समय तो आचार्य भिक्षु ही तेरापंथ और तेरापंथ ही आचार्य भिक्षु थे। तेरापंथ एक प्रस्फोट है। महावीर-वाणी के कुछ बीज तेरापंथ की भूमिका में प्रस्फुटित हुए,

वैसे सम्भवतः पहले नहीं हुए। तेरापंथ, महावीर की अहिंसा का महाभाष्य है। उस महाभाष्य की कुछ पंक्तियाँ आज राजनीति की भूमिका में प्रत्यावर्तन पा रही हैं। समाज भी उन्हें मान्यता दे रहा है। वह शाश्वत-सत्य, जिसकी भगवान् महावीर ने अनुभूति की और जिसे आचार्य भिक्षु ने अभिव्यक्ति दी, आज युग की भाषा में बोल रहा है।

उस समय बड़े जीवों की रक्षा के लिए छोटे जीवों के वध को पुण्य माना जाता था। अहिंसा के क्षेत्र में भी बल-प्रयोग मान्य था। पुण्य के लिए धर्म करना भी सम्मत था। अशुद्ध साधन के द्वारा भी शुद्ध साध्य की प्राप्ति मानी जाती थी और दान मात्र को पुण्य माना जाता था।

आचार्य भिक्षु ने इन मान्यताओं की आलोचना की। बड़े-छोटे के प्रश्न पर उन्होंने सब जीवों की समानता की बात याद दिलाई। बल-प्रयोग के स्थान पर हृदय-परिवर्तन की पुष्टि की। उन्होंने कहा—धर्म करने पर पुण्य स्वयं होता है, पर पुण्य करने के लिए धर्म करना लक्ष्य से दूर जाना है। शुद्ध साध्य की प्राप्ति शुद्ध साधनों के द्वारा ही हो सकती है और दान का अधिकारी केवल संयमी है, असंयमी नहीं। उस समय इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई, यह बताने से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि ये विचार युग की भाषा में कैसे प्रतिध्वनित हो रहे हैं।

सब मनुष्य समान है, यह इस युग का प्रमुख घोष है। बड़ों के लिए छोटों के बलिदान की बात आज निष्प्राण हो चुकी है।

समझा-बुझाकर बुराई को दूर किया जाय, इस हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त पर मनोविज्ञान की छाप लग चुकी है। आज अपराधियों के लिये भी दण्ड-व्यवस्था की अपेक्षा सुधार की व्यवस्था पर अधिक ध्यान दिया जाता है। आज के सभ्य राष्ट्र फाँसी की सजा को मिटा रहे हैं और अपराध-सुधार के मनोवैज्ञानिक उपायों पर ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं। महात्मा गांधी ने हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त पर लगभग उतना ही बल दिया जितना कि आचार्य भिक्षु ने दिया था। इन दोनों धाराओं में अद्‌भुत सामञ्जस्य है।

यह तो कहीं नहीं लिखा है कि अहिंसावादी किसी आदमी को मार डाले। उसका रास्ता तो बिल्कुल सीधा है। एक को बचाने के लिये वह दूसरों की हत्या नहीं कर सकता। उसका पुरुषार्थ एवं कर्तव्य तो सिर्फ विनम्रता के साथ समझाने-बुझाने में है[1]!

पं० नेहरू की यह भाषा कि अधिकार के लिये प्रयत्न न हो, वह हो कर्त्तव्य के लिये—अधिकार स्वयं प्राप्त होता है—सहसा उसकी याद दिला देती है

१-हिन्द स्वराज्य पृ० : ७५-७६

कि पुण्य के लिये धर्म न हो, वह आत्मशुद्धि के लिये हो; पुण्य स्वयं प्राप्त होता है।

साम्यवादी लक्ष्य की पूर्ति के लिये अशुद्ध साधनों को भी प्रयोजनीय मानते हैं। इसी आधार पर असाम्यवादी राजनयिक उनकी आलोचना करते हैं। वे अशुद्ध साधनों के प्रयोग को उचित नहीं मानते।

साध्य के सही होने पर भी अगर साधन गलत हो तो वे साध्य को बिगाड़ देंगे या उसे गलत दिशा में मोड़ देंगे। इस तरह साधन और साध्य में गहरा और अटूट सम्बन्ध है। वे दोनों एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते[1]।

दान मानसिक तत्त्व है। वर्तमान समाज-व्यवस्था में उसके लिये कोई स्थान नहीं, वह समाज-सम्मत हो चुका है। दान के स्थान पर सहयोग की चर्चा चल पड़ी है। दुनियाँ में शारीरिक श्रम के बिना भिक्षा माँगने का अधिकार केवल सच्चे सन्यासी को है। जो ईश्वर-भक्ति के रंग में रँगा हुआ है ऐसे सच्चे सन्यासी को ही यह अधिकार है[2]।

आचार्य भिक्षु अध्यात्म की भूमिका पर बोलते थे। उनका चिन्तन मोक्ष की मान्यता के साथ-साथ चलता था। राजनीति की भूमिका उससे भिन्न है और उसका साध्य भी भिन्न है। इस भूमिका-भेद को ध्यान में रखकर हम सुनें तो हमें यही अनुभव होगा कि वर्तमान युग उसी भाषा में बोल रहा है जिसमें आचार्य भिक्षु बोले थे। आज उन तथ्यों की घोषणा हो रही है जिनकी आचार्य भिक्षु ने अभिव्यक्ति दी थी।

: २ : साधना के पथ पर

इस अभिव्यक्ति का इतिहास ज्वलंत साधना और कठोर तपस्या का इतिहास है। आचार्य भिक्षु अभिव्यक्ति देने नहीं किन्तु सत्य की उपलब्धि के लिये चले थे। ईसा को फाँसी और सुकरात को विष की प्याली ही नहीं मिली थी कुछ और भी मिला था। आचार्य भिक्षु को रोटी-यातना ही नहीं मिली थी, सत्य भी मिला था। पाँच वर्ष तक उन्हें पेट भर भिक्षा नहीं मिली। एक व्यक्ति ने पूछा—महाराज, घी-गुड़ मिलता होगा। आपने उत्तर दिया—पाली के बाजार में कभी-कभी दीख पड़ता है[3]।

१-सर्वोदय का सिद्धान्त पृ० : १३
२-विनोबा के विचार पृ० : १२०
३-भिक्षु जश रसायण :

पांच वर्ष लग पेख, अन्न पिण पूरो ना मिलो।
बहुल पणे संपेख, घी चोपड़ तो जिहा ही रह्यो॥

तेरापन्थ की स्थापना उनका लक्ष्य नहीं था। उनका लक्ष्य था संयम की साधना। वे उस मार्ग पर चलने के लिये मृत्यु का वरण करने से भी नहीं हिचकते थे[1]। उनके तथ्यों को लोग पचा सकेंगे, उनकी यह धारणा नहीं थी। उनके विचारों को मान्यता देनेवाला कोई समाज होगा, यह कल्पना उन्हें नहीं थी। उनके पास जाना, उनसे धर्म चर्चा करना सामाजिक अपराध था। लोग उनका विरोध करने में लीन थे। वे अपनी तपस्या करने में संलग्न थे। सतत् विरोध और तपस्या ने एक तीसरी स्थिति उत्पन्न की। जन-मानस में आचार्य भिक्षु के महान् व्यक्तित्व के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई। लोग रात में या एकान्त में छिप-छिपकर आने लगे। पर आचार्य भिक्षु अभिव्यक्ति से दूर अपनी साधना में ही रत थे। दो मुनि आये जो पिता और पुत्र थे। उनका नाम था थिरपाल और फत्तेचन्द। वे हाथ जोड़कर बोले—गुरुदेव! उपवास हम करेंगे, सूर्य की गर्मी से तपी हुई नदी की सिकता में हम लेटेंगे, आप ऐसा मत करें। आपकी प्रतिभा निर्मल है। आपसे सत्य की अभिव्यक्ति होगी। लोगों में जिज्ञासा जागी है। आप उन्हें प्रतिबोध दें। उनका विनय भरा अनुरोध उन्होंने स्वीकार किया और मौन को उपदेश में परिणत कर दिया।

अपने ध्येय के प्रति आचार्य भिक्षु की गहरी निष्ठा थी। उसीसे उनमें तितिक्षा का उदय हुआ। उन्होंने बहुत सहा, शारीरिक कष्ट सहे, तिरस्कार सहा, गालियाँ सही और कभी-कभी घूँसे भी सहे। ठहरने के लिये स्थान की कठिनाई थी। लोग पीछे पड़ रहे थे। नाथद्वारा की घटना है—वे चातुर्मास कर रहे थे। दो मास बीते और राज्य का आदेश हुआ कि वे वहाँ से चले जाएँ। उनके शेष दो मास 'कोठरियां' में बीते।

एक व्यक्ति मिला। उसने पूछा—तुम कौन हो? मैं भीखन हूँ, आचार्य भिक्षु ने कहा। ओह! अनर्थ हो गया—उसने कहा। उन्होंने पूछा—सो कैसे? वह बोला—तुम्हारा मुँह देखनेवाला नरक में जाता है। तुम्हारा मुँह देखनेवाला तो स्वर्ग में जाता होगा? आचार्य भिक्षु ने पूछा। उसने स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया। आचार्य भिक्षु ने कहा—तुम्हारे लिये अच्छा नहीं हुआ, मेरे लिये तो अच्छा ही हुआ है—मुझे तो स्वर्ग ही मिलेगा, क्योंकि तेरा मुँह देखा है[2]।

एक व्यक्ति आया और कहने लगा—मुझ से तत्त्व-चर्चा का कोई प्रश्न पूछो। आचार्य भिक्षु ने नहीं पूछा। बारबार अनुरोध किया, तब पूछा—तुम

१- भिक्षु जश रसायण :

मरणधार सुध मग लह्यो, कमी न राखी कांय।

२-दृष्टान्त : १५

समनस्क हो या अमनस्क? उसने कहा—समनस्क। आचार्य ने पूछा—कैसे? उसने कहा—नहीं, मैं अमनस्क हूँ। फिर पूछा—किस न्याय से? वह बोला—नहीं, मैं दोनों ही नहीं हूँ। आपने कहा—वह फिर किस न्याय से? वह बोला—नहीं दोनों ही हूँ। फिर पूछा गया—वह किस न्याय से? वह इस न्याय-न्याय से रुष्ट होकर छाती में घूँसा मार चलता बना।

तेरापंथ की शान्तिपूर्ण नीति आचार्य भिक्षु की तितिक्षा की ही परिणति है। इन दो शताब्दियों में तेरापंथ की उत्तेजनापूर्ण और निम्नस्तर की आलोचना कुछ सम्प्रदाय के व्यक्तियों ने की, प्रचुर मात्रा में विरोधी साहित्य भी निकला। पर इन पूरे दो सौ वर्षों में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है कि विरोध का प्रत्युत्तर उत्तेजनापूर्ण ढंग से दिया गया हो या विरोधपूर्ण दो पंक्तियाँ ही प्रकाशित की हो।

शान्तिपूर्ण नीति से क्रियात्मक शक्ति का बहुत ही अर्जन हुआ है, इसका श्रेय आचार्य भिक्षु की ध्येय-निष्ठा को है।

संसार से आचार्य भिक्षु की सच्ची विरक्ति थी। उनकी दृष्टि में वह बुद्धि असार है जो धर्म में लीन नहीं होती। उन्होंने जो धर्म-चर्चा की, वह मोक्ष को केन्द्र-बिन्दु मान कर की। समाज की भूमिका पर खड़े व्यक्ति को उसमें कहीं-कहीं अतिवाद या वैराग्य के अन्तिम छोर को पकड़ने जैसा लगता है। यद्यपि समाज के पारस्परिक सहयोग का लोप करना उनका उद्देश्य नहीं था, फिर भी 'आपात-दर्शन' में पाठक को ऐसा अनुभव होता है कि वे सामाजिक सहयोग का निरसन कर रहे हैं। गहराई में जाने पर अनुभव होता है कि वे मोक्ष-धर्म और जीवन-व्यवहार के बीच भेद-रेखा खींच रहे हैं। धर्म का आधार विरक्ति है और उसकी परिणति है त्याग। त्याग उतना ही होता है जितनी विरक्ति होती है। विरक्तिशून्य त्याग, त्याग ही नहीं होता है और यह भी नहीं होता कि विरक्ति हो और त्याग न हो। सब जीवों का मनोभाव समान नहीं होता। किसी की पदार्थों में अनुरक्ति होती है और किसीकी विरक्ति। अनुरक्त के विचार विरक्त को अद्‌भुत से लगते हैं और विरक्त के विचार अनुरक्त को। यह अद्‌भुतता सापेक्ष है। अपनी-अपनी स्थिति में कोई अद्‌भुत नहीं है।

: ३ : चिन्तन की धारा

पाँव के रोगी को खुजलाना अच्छा लगता है, पर जिसे पाँव नहीं है उसे वह अच्छा नहीं लगता। जिसमें मोह है उसे भोग प्रिय लगता है। जो मोह

के जाल से दूर है, उसे लगता है, भोग मोक्ष की बाधा है[1]। अनुभूति भिन्न होती है और उसका हेतु भी भिन्न होता है। हमारी अनुभूति आत्म-मुक्ति की ओर झुकी हुई होगी तो हम आचार्य भिक्षु के चिन्तन को यथार्थ पायेंगे और हमारी अनुभूति पदार्थोन्मुख होगी तो वह हमें अटपटा सा लगेगा। आचार्य भिक्षु की वाणी है—"जो सांसारिक उपकार हैं वे मोहवश किये जाते हैं। सांसारिक जीव उनकी प्रशंसा करते हैं, साधु उनकी सराहना नहीं करते। इन सांसारिक उपकारों में जिन-धर्म का अंश भी नहीं है। जो इनमें धर्म बतलाते हैं वे मूढ़ हैं।[2] यह धार्मिक तथ्य है। इसकी अभिव्यक्ति करते हुए उनकी अन्तरात्मा में कभी कँपन नहीं हुआ। सांसारिक उपकार में जो व्यावहारिक लाभ हैं उनकी उन्हें स्पष्ट अनुभूति थी। उसका उन्होंने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। जो व्यक्ति किसी जीव को मृत्यु से बचाता है, उसके साथ उसका स्नेह-बन्ध हो जाता है। इस जीवन में ही नहीं किन्तु आगामी जन्म में भी उसे देखते ही स्नेह उत्पन्न हो जाता है[3]। जो व्यक्ति किसी जीव को मारता है उसके साथ उसका द्वेष-बन्ध हो जाता है। पर-जन्म में भी उसे देखकर द्वेष-भाव उभर आता है[4]। मित्र के साथ मित्रता और शत्रु के साथ

१-नव पदार्थ ढाल १२ गा० ३-५ : —

'संसार नां सुख तो छै पुद्गल तणां रे, तेतो सुख निश्चय रोगीला जाण रे।
ते कर्मां वश गमता लागें जीवने रे, त्यां सुखांरी बुधवन्त करो पिछाण रे॥
पाँव रोगीलो हुवै छै तेहनें रे, अत्यन्त मीठी लागे छै खाज रे।
एहवा सुख रोगीला छै पुन तणां रे, तिण सूं कदेय न सीझे आतम काजरे॥
एहवा सुखां सूं जीव राजी हुवैरे, तिण रे लागे छै पाप कर्म रा पूर रे।
पछै दुःख भोगवे छै नरक निगोद में रे, मुगत सुखां सूं पड़ियो दूर रे॥

२-अणुकम्पा ढ़ाल ११ गा० ३८-३९ :

जितरा उपगार संसार तणा छै, जे जे करे ते मोह वस जांणो।
साध तो त्यांने कदे न सरावें, संसारी जीव तिणरा करसी वखाणो॥
संसार तणां उपगार कीयां में, जिण धर्म रो अंश नहीं छै लिगार।
संसार तणां उपगार कीयां में, धर्म कहे ते तो मूढ़ गिवार॥

३-अणकम्पा ढ़ाल ११ गा० ४३ :

जीवनें जीव बचावे तिण सूं, बन्ध जावें तिणरों राग सनेह।
जो परभव में उ आय मिलें तो, देखत पाण जागे तिणसूं नेह॥

४-अणुकम्पा ढ़ाल ११ गा० ४४ :

जीव नें जीव मारें छै तिणसूं, वंध जावे तिणसूं धेष विशेख।
ते पर भव में उ आय मिलें तो, देखत पांण जागें तिण सूं धेख॥

शत्रुता चलती जाती है। ये दोनों राग-द्वेष के भाव हैं, ये धर्म नहीं हैं[1]।

कोई अनुकम्पावश किसी का सहयोग करता है और कोई किसी के कार्य में विघ्न डालता है। ये राग और द्वेष के मनोभाव हैं। इनकी परम्परा बहुत लम्बी होती है। आत्म-मुक्ति का सहयोग ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के द्वारा ही किया जा सकता है[2]।

एक दिन मुनि खेतसीजी को अतिसार हो गया। आचार्य भिक्षु उनकी परिचर्या में बैठे थे। खेतसीजी कुछ स्वस्थ हुए। उन्होंने स्वामीजी से कहा—सती रूपांजी का ध्यान विशेष रखियेगा। आपने कहा—बहन की चिन्ता मत करो। तुम अपना मन समाधि में रखो[3]। उन्होंने अन्तिम समय में मुनि रायचन्दजी को यही सीख दी—"तुम बालक हो। मोह मत लाना"। चौबीस वर्ष की युवावस्था में भिक्षु अपनी पत्नी सहित ब्रह्मचारी बन गये और दोनों ही एकान्तर तप (एक दिन उपवास और एक दिन आहार) करने लगे। बीच में ही पत्नी का देहान्त हो गया। आप अकेले ही मुनि बने और अपने साध्य की सिद्धि के लिये सतत् जागरूक रहे।

: ४ : नैसर्गिक प्रतिभा

आचार्य भिक्षु सहज प्रतिभा के धनी थे। उन्हें पढ़ने को बहुत कम मिला। मनचाही प्रतियाँ सुलभ नहीं थीं। वह प्रकाशन का युग नहीं था। उन्हें सब जैन-आगम भी उपलब्ध नहीं थे। उन्हें 'भगवतीसूत्र' की प्रति बड़े प्रयत्न के बाद मिली। उन्होंने आगमों को अनेक बार पढ़ा—आगम उनके हृदयंगम से हो गये। व्यावहारिक ज्ञान और आगम का, उनकी प्रतिभा में समन्वय हो गया। उन्होंने गम्भीर तत्त्वों को बड़े सरल ढंग से समझाया। प्रश्नों का समाधान भी बड़े अनोखे ढंग से देते।

१-अणुकम्पा ढ़ाल ११ गा० ४५ :
मित्री सूं मित्रीपणों चलीयों जावें, वेरी सूं वेरीपणों चलीयो जावें।
ऐ तो राग धेष कर्मां रा चाला छै, ते श्री जिण धर्म मांहे नहीं आवें॥
२-अणुकम्पा ढ़ाल ११ गा० ४६-५०
कोइ अणुकम्पा आणी घर मंडावें, कोइ मंडता घर नें देवें भंगाय।
ओ प्रतख राग नें धेष उघाड़ो, ते आगे लगा दोनूं चलीया जाय॥
कहि कहि नें कितरो एक कहुँ, संसार तणां उपगार अनेक।
ग्यान दरसण चारित ने तप विना, मोक्ष तणों उपगार नहीं छें एक॥
३-दृष्टान्त : २५३

एक व्यक्ति उनसे चर्चा कर रहा था। उसकी बुद्धि स्वल्प थी। लोगों ने बहुत आग्रह किया कि आप इसे समझाइए। आपने कहा—मूंग, मोठ और चने की दाल होती है, पर गेहूँ की दाल कैसे हो? जिसमें समझने की क्षमता हो नहीं उसे कोई कैसे समझाये[1]?

किसी ने कहा समझदार व्यक्ति बहुत हैं पर तत्त्व को समझनेवाले थोड़े, क्यों? आपने कहा—मूर्ति बनाने योग्य पत्थर बहुत हैं, पर कारीगर कम हैं[2]।

एक व्यक्ति ने पूछा—जीव को नरक में कौन ले जाता है? आपने उत्तर दिया—पत्थर को नीचे कौन ले जाता है? वह अपने ही भार से नीचे चला जाता है। प्रश्न आगे बढ़ा—जीव को स्वर्ग में कौन ले जाता है? उत्तर मिला—काठ के टुकड़े को जल में कौन तिराता है? वह अपनी लघुता से स्वयं तैरता है। पैसे को पानी में डालो, वह डूब जायगा। उसीको तपा-पीटकर कटोरी बनालो, वह पानी पर तैरने लगेगी[3]।

चिन्तन उनके लिये भार नहीं था, किन्तु उनके चिन्तन में गुरुत्व था। उनकी चर्या में भी चिन्तन था। एक व्यक्ति ने कहा—आप वृद्ध हैं, प्रतिक्रमण (आलोचना) बैठे-बैठे किया करें। आपने कहा—मैं खड़ा-खड़ा करता हूँ तो पिछले साधु बैठे-बैठे तो करेंगे, यदि मैं बैठा-बैठा करूँ तो सम्भव है, पिछले साधु लेटे-लेटे करने लगें[4]।

उनकी अनुभूति बड़ी तीव्र थी। वे परिस्थिति का अंकन बड़ी गहराई से करते थे। एक दिन स्वामीजी के साथ कोई व्यक्ति तत्त्व-चर्चा कर रहा था। बीच-बीच में वह अंट-संट भी बोलता था। किसी ने कहा—आप उस व्यक्ति से क्यों चर्चा करते हैं जो अंट-संट बोलता है। आपने कहा—बेटा नन्हा होता है तब वह पिता की मूँछ भी खींच लेता है, पगड़ी भी बिखेर देता है, किन्तु बड़ा होने पर वही पिता की सेवा-भक्ति करता है। जब तक यह मुझे नहीं पहचान लेता है तबतक बकवास करता है। मुझे समझ लेने पर यही मेरी भाव भरी भक्ति करेगा[5]।

वे अपनी कार्यप्रणाली में स्वतन्त्र चिन्तन उड़ेलते रहते थे। अनुकरण-प्रियता उन्हें लुभा न सकी। अनुकरणप्रेमियों की स्थिति का चित्र उनकी 'दृष्यान्त शैली' में इस प्रकार है—"एक साहूकार में व्यापारिक समझ नहीं

१-दृष्टान्त : ११७
२-दृष्टान्त : १५७
३-दृष्टान्त : १४१-१४२-१४३
४-दृष्टान्त : २१२
५-दृष्टान्त : २८७

थी। वह पड़ोसी की देखा-देखी करता। पड़ोसी जो वस्तु खरीदता उसे वह भी खरीद लेता। पड़ोसी ने सोचा—यह मेरी देखा-देखी करता है या इसमें अपनी समझ भी है। उसने उसे परखना चाहा और अपने बेटे से कहा—पंचाङ्गों का भाव तेज है उन्हें खरीद लो, थोड़े दिनों में दूने दाम हो जायेंगे। पड़ोसी ने सुना और विदेशों से पंचाङ्ग मँगवा लिये। दिवाला निकालना पड़ा[1]।"

वे मूल को बहुत महत्व देते थे। आचारहीनता उनके लिये असह्य थी। उससे भी अधिक असह्य थी श्रद्धाहीनता। कुछ व्यक्तियों ने कहा—भीखणजी हमें साधु या श्रावक नहीं मानते। आपने इस प्रसंग को समझाते हुए कहा—कोयलों की राब काले बर्त्तन में पकाई गई, अमावस की रात, जीमनेवाले अन्धे और परोसनेवाले भी अन्धे। वे खाते जाते हैं और कहते जाते हैं—खबरदार! कोई काला 'कौंखा' आये तो टाल देना। भला क्या टाले, सारा काला ही काला है[2]।

: ५ : हेतुवाद के पथ पर

आचार्य भिक्षु तार्किक-शक्ति से सम्पन्न थे। उन्होंने साध्य-साधन का विवेचन केवल आगामों के आधार पर ही नहीं किया, स्थान-स्थान पर उसे तर्क से भी पुष्ट किया है। धर्म को कसौटी पर कसते हुये उन्होंने बताया—धर्म मुक्ति का साधन है। मुक्ति का साधन मुक्ति ही हो सकती है, बन्धन कभी उसका साधन नहीं होता। बन्धन भी यदि मुक्ति का साधन हो जाय तो बन्धन और मुक्ति में कोई भेद ही न रहे। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तप के सिवाय कोई मुक्ति का उपाय नहीं है[3]। इसलिये ये चार ही धर्म हैं। शेष सब बन्धन के हेतु हैं। जो बन्धन के हेतु हैं वे मोक्ष-धर्म नहीं हैं[4]। धर्म मुक्ति का साधन है और स्वयं मुक्ति है। इसलिये कहा जा सकता है कि मुक्ति, मुक्ति के द्वारा ही प्राप्य है, बन्धन के द्वारा बन्धन होता है। उसके द्वारा मुक्ति

१-दृष्टान्त : २८८

२-दृष्टान्त : १४३

३-अणुकम्पा ढ़ाल ४ गा० १७ :
ग्यांन दर्शन चारित्र तप विना, और मुक्ति रो नहीं उपाय हो।
छोड़ा मेला उपगार संसार नां, तिणथी सदगति किण विध जाय हो॥

४-अकम्पा ढ़ाल : ४-गा० १८ :
जितरा उपगार संसार नां, ते तो सगलाइ सावद्य जाण हो।
श्री जिण धर्म में आवें नहीं, कूड़ी म करो तांण हो॥

प्राप्य नहीं है। बन्धन अनादि परिचित है और मुक्ति अपरिचित है[1]। इसलिये संसारी जीव बन्धन की प्रशंसा करते हैं, किन्तु मुमुक्षु प्राणी उसकी सराहना नहीं करते[2]।

संसार क्या है ? शरीर-आत्मा का सम्बन्ध ही संसार है। सूक्ष्म शरीर (कार्मण शरीर) के द्वारा स्थूल शरीर की पुनरावृत्ति होती रहती है। इन्द्रिय और मन के विषयों का ग्रहण होता है। प्रिय में राग और अप्रिय में द्वेष होता है। रागद्वेष से कर्म-बन्ध, बन्ध से जन्म-मरण की आवृत्ति। इस प्रकार ही संसार की आवृत्ति होती रहती है।

मोक्ष क्या है ? सूक्ष्म शरीर से मुक्ति। उसके बिना स्थूल शरीर नहीं होता। उसके अभाव में इन्द्रिय और मन नहीं होते। इनके बिना विषय ग्रहण नहीं होता। अभाव में राग-द्वेष नहीं होते। रागद्वेष बिना कर्म-बन्धन नहीं होता। बन्धन के बिना संसार नहीं होता, जन्म-मरण की आवृत्ति नहीं होती। मोक्ष से संसार नहीं होता और संसार से मोक्ष नहीं होता, इसलिए मोक्षार्थी व्यक्ति को न जन्म की इच्छा करनी चाहिये और न मृत्यु की। उसके लिये अभिलषणीय है संयम। संयम से जीवन-मृत्यु की आवृत्ति का निरोध होता है। इसलिये वह मोक्ष का उपाय है। वह मोक्ष का उपाय है, इसलिये मोक्ष है।

जो असंयमी जीवन की इच्छा करता है उसे धर्म का परमार्थ नहीं मिला है[3]। असंयममय जीवन और बाल-मरण ये दोनों अनभिलषणीय हैं। संयम-मय जीवन और पण्डित-मरण ये दोनों अभिलषणीय हैं[4]।

जिन्हें सब प्रकार से हिंसा करने का त्याग नहीं है, वे असंयमी हैं। संयमी वे

१-जम्बूकुमार चरित २-१५

२-अणुकम्पा ढ़ाल ११ गा० ३८ :
जितरा उपगार संसार तणां छें, जे जे करे ते मोह वस जांणो।
साधु तो त्यांने कदे न सरावें, संसारी जीव तिणरा करसी बखांणो॥

३-अणुकम्पा ढाल ८ गा० १७ :
इवरती जीवां रो जीवणों वांछें, तिण धर्म रो परमारथ नहीं पायो।
आ सरधा अग्यानी री पग पग अटके, ते सांभलज्यो भवीयण चित ल्यायो॥

४-अणुकम्पा ढ़ाल ६ गा० ३६ :
असंजम जीतव ने बाल मरण, यां दोयांरी वंछा न करणी जी।
पिंडत मरण ने संजम जीतव, यांरी आसा वंछा मन धरणी जी॥

है जिनका जीवन हिंसा से पूर्णतः विरत हो[1]। लोक-दृष्टि में वह जीवन श्रेष्ठ है जो समाज के लिये उपयोगी हो। मोक्ष-दृष्टि में वह जीवन श्रेष्ठ है जो संयमी हो। असंयमी जीवन की इच्छा समाज की उपयोगिता हो सकती है; धर्म नहीं। आचार्य भिक्षु ने कहा—अपने असंयमी जीवन की इच्छा करना भी पाप है तब दूसरे के असंयमी जीवन की इच्छा करना धर्म कैसे होगा? मरने-जीने की इच्छा अज्ञानी करता है। ज्ञानी वह है जो समभाव रखे[2]।

आचार्य भिक्षु ने साध्य-साधन का विविध पहलुओं से स्पर्श करके एक सिद्धान्त स्थापित किया कि जो कार्य करना साध्य के अनुकूल नहीं है उसे करवाना व करनेवाले का अनुमोदन करना भी साध्य के अनुकूल नहीं हो सकता। कृत, कारित और अनुमति तीनों अभिन्न हैं।

(क) जो कार्य करना धर्म है, उसे करवाना और उसका अनुमोदन भी धर्म है।

(ख) जो कार्य करवाना धर्म है, उसे करना और उसका अनुमोदन भी धर्म है।

(ग) जिसका अनुमोदन धर्म है, उसे करना और कराना भी धर्म है।

(क) जो कार्य करना धर्म नहीं, उसे करवाना और उसका अनुमोदन भी धर्म नहीं।

(ख) जो कार्य करवाना धर्म नहीं उसे करना और उसका अनुमोदन भी धर्म नहीं।

(ग) जिसका अनुमोदन धर्म नहीं; उसे करना और कराना भी धर्म नहीं।

हिंसा करना पाप है, करवाना पाप है और उसका अनुमोदन भी पाप है[3]। अहिंसा का पालन करना धर्म है, करवाना धर्म है और उसके पालन का अनुमोदन करना भी धर्म है।

१-अणुकम्पा ढाल ९ गा० ४० :
छ कायरा सत्र जीव अविरती, त्यांरो असंजम जीतव जाणोजी।
सर्व सावद्य त्याग कीया त्यांरो, संजम जीतव एह पिछांणो जी॥
२-अणुकम्पा ढाल २ गा० १४ :
आपणोइ वांछै तो पाप, परनो कुण घाले संताप।
मर्यो जीवणो वांछै अग्यांनी, समभाव राखें ते ग्यांनी॥
३-अणुकम्पा ढा० ४ दू० २ :
मार्यां मरायां भलो जाणीयां, तीनोंइ करणां पाप।
देवगण वालाने जे कहें, ते खोटा कुगुर सपाप॥

कुछ लोग कहते हैं, मरते जीवों को बचाना धर्म है। आचार्य भिक्षु ने कहा—धर्म का सम्बन्ध जीवन या मृत्यु से नहीं है। उसका सम्बन्ध संयम से है। एक व्यक्ति स्वयं मरने से बचा, दूसरे ने उसके जीवित रहने में सहयोग दिया और तीसरा उसके जीवित रहने से हर्षित हुआ, इस तीनों में धर्मी कौन सा होगा? जो जीवित रहा उसका भी अव्रत नहीं घटा और अनुमोदन करनेवाले का भी व्रत नहीं बढ़ा, फिर ये धर्मी कैसे होंगे? जीना, जिलाना और जीने का अनुमोदन करना, ये तीनों समान हैं और उनके अनुमोदन में भी धर्म नहीं है[1]। जिसका खाना धर्म नहीं है उसे खिलाना भी धर्म नहीं है और उसके खाने का अनुमोदन करना भी धर्म नहीं है।

जिसका खाना धर्म है, उसे खिलाना भी धर्म है और उसका अनुमोदन करना भी धर्म है। आचार्य भिक्षु ने कर्तव्य के धर्माधर्म पक्ष का निर्णय करने में उक्त तर्क शैली का सर्वत्र उपयोग किया है। उन्होंने संयमी या मुनि को मानदण्ड मानकर सबको मापा। संयमी जिस कार्य का अनुमोदन कर सकता है, वह धर्म है, क्योंकि वह जिस कार्य का अनुमोदन कर सकता है उसे कर भी सकता है और करा भी सकता है। वह जिस कार्य का अनुमोदन नहीं कर सकता वह धर्म नहीं है क्योंकि जिस कार्य का वह अनुमोदन नहीं कर सकता, उसे कर भी नहीं सकता और करा नहीं सकता। संयमी असंयम और उसके साधनों का अनुमोदन नहीं कर सकता। इसलिए असंयम धर्म नहीं है। वह संयम और उसके साधनों का ही अनुमोदन कर सकता है, इसलिये संयम ही धर्म है। कुछ साधु बड़े जीवों की रक्षा के लिये छोटे जीवों को मारने में धर्म कहते थे। आचार्य भिक्षु ने आश्चर्य के स्वर में कहा—जो साधु, कृत, कारित और अनुमति, मनसा, वाचा, कर्मणा से अहिंसक हैं, जीव मात्र की दया का पालन करते हैं वे सभी जीवों के रक्षक होकर जीवों को मारने में

१-अणुकम्पा ढ़ाल ५ गा० २२-२५ :

एक पोतें बच्यो मरवा थकी, दूजें कीधो हो तिणरें जीवणरो उपाय।
तीजों पिण हरष्यों उण जीवीयां, यां तीनां में हो कुण सुद्ध गति जाय॥
कुशल रह्यो तिणरें इविरत घटी नहीं, तो दूजा ने हों तुमे जांणजो एम।
भलो जांणै तिणरें विरत न नीपनी, ए तीनोइ ते सुद गति जासी केम॥
जीवियां जीवायां भलो जीणीयां, तीनोइ हो करण सरीषा जांण।
कोई चतुर होसी ते परखसी, अण समझया हो करसी तांणा तांण॥
छांकाया रो वांछें मरणो जीवणों, ते तो रहसी हो संसार मझार।
ग्यांन दर्शन चारित तप भला, आदरीयां हो आदरायां खेवो पार॥

धर्म किस न्याय से कहते हैं[1] ? जीवों को मारकर जीवों को पोसा जाता है, यह संसार का मार्ग है, पर इसमें जो साधु धर्म बतलाते हैं वे पूरे मूढ़ हैं, अज्ञानी हैं[2]। जो साधु जीव-हिंसा में धर्म बतलाते हैं, उनके तीन महाव्रतों का भंग होता है। जीव-हिंसा में धर्म बतलाना, हिंसा का अनुमोदन है, इसलिये उनका अहिंसा महाव्रत भग्न होता है। भगवान् ने हिंसा में धर्म नहीं कहा है। जीवों का पोषण करना अहिंसा-धर्म नहीं, यह सत्य है। इसके विपरीत एक जीव के पोषण के लिए दूसरे जीव को मारना दया धर्म है, यह कहना असत्य है। इस दृष्टि से उनका दूसरा सत्य महाव्रत भग्न होता है।

जिन जीवों के मारने में धर्म की प्ररूपणा करते हैं वे उन जीवों की चोरी करते हैं। क्योंकि वे जीव अपने प्राण-हरण की स्वीकृति नहीं देते, और बिना अनुमति के उनके प्राण लेना चोरी है। जीवों को मारने में भगवान् की आज्ञा नहीं है। जीवों को मारने में धर्म बतलानेवाले, भगवान् की आज्ञा की भी चोरी करते हैं। इसलिए उनका तीसरा अचौर्य महाव्रत टूटता है। इस प्रकार जीव हिंसा में धर्म का प्ररूपण करनेवालों के तीनों महाव्रत टूटते हैं[3]।

१-अणुकम्पा ढ़ाल ६ गा० ४१ :

त्रिविधे त्रायी छ काय रा साध, त्यांरी दया निरन्तर राखें जी।
ते छ काय रा पीहर छ काय नें मार्‌यां, धर्म किसें लेखें भाखें जी॥

२-अणुकम्पा ढ़ाल ६ गा० २५ :

जीवां नें मारे जीवां ने पोषें, ते तो मारग संसार नों जांणो जी।
तिण मांहें साधु धर्म बतावें, ते पूरा छें मूढ़ अयांणो जी॥

३-अणुकम्पा ढ़ाल ६ गा० २९-३२ :

केइ साधरो विड़द धरावें लोकां में, वले बाजें भगवन्त रा भगताजी।
पिण हिंसा मांहें धर्म परूपें, त्यांरा तीन वरत भांगे लगता जी॥
छ काय मार्‌यां मां रे धर्म प्ररूपें, त्यांनें हिंसा छकाय री लागे जी।
तीन काल री हिंसा अणुमोदी, तिणसूं पेंहिलो महाव्रत भागें जी॥
हिंसा में धर्म तो जिण कह्यों नांहीं, हिंसा में धर्म कह्या झूठ लागें जी॥
इसड़ो झूठ निरंतर बोलें, त्यांरो बीजोई महावरत भांगे जी॥
ज्यां जीवां ने मार्‌यां धर्म परूपें, त्यां जीवांरो अदत्त लागो जी।
वलेआगनालोपीश्रीअरिहन्तनी,तिण सूं तीजोई महावरत भांगें जी॥

जीव-हिंसा में धर्म बतानेवाले अपने को दया-धर्मी कहते हैं, पर वास्तव में वे हिंसा-धर्मी हैं[1]।

साध्य की मीमांसा में उन्होंने बतलाया—जीवों को बचाना, यह धर्म का साध्य नहीं है। एक व्यक्ति मरते जीवों को बचाता है और एक व्यक्ति जीवों को उत्पन्न कर उन्हें पाल-पोषकर बड़ा करता है। यदि धर्म होगा तो इन दोनों को होगा और नहीं होगा तो दोनों को नहीं। बचानेवाले की अपेक्षा उत्पन्न करनेवाला बड़ा उपकारी है; किन्तु ये दोनों संसार के उपकारी हैं। इन उपकारों में केवली भाषित धर्म नहीं है[2]। आचार्य भिक्षु ने कहा—सावद्य दया धर्म नहीं है। तर्क की कसौटी पर कसते हुए उन्होंने कहा—धर्म का मूल दया या अहिंसा है। दान देने के लिये जीव-वध किया जाता है, उस सावद्य दान से दया उठ जाती है और जीवों को बचाने के लिये दया की जाती है, उस सावद्य दया से दान उठ जाता है। जो लोग सावद्य दान देने में और जीव बचाने में धर्म मानते हैं, उनके दान के सामने दया का सिद्धान्त नहीं टिकता और उनकी दया के सामने दान का सिद्धान्त नहीं टिकता। दान के लिये जीव-वध करता है, उसके दिल में दया नहीं रहती, और दान देने के लिये वध किये जानेवाले जीवों को बचाता है तो दान नहीं होता। सावद्य दान और सावद्य दया, ये दोनों मुक्ति के मार्ग नहीं हैं। सावद्य दान में जीवों का वध होता है, इसलिए वह मुक्ति का मार्ग नहीं है।

सावद्य दान को रोक कर जीवों की रक्षा करने से जिन्हें दान दिया जाता

१-अणुकम्पा ढाल ६ गा० ३४ :

त्यांने पूछ्यां कहें म्हें दयाधर्मी छें, पिण निश्चै छ काय रा घातीजी।
त्यां हिंसाधर्म्यां ने साध सरधे केई, ते पिण निश्चै मिथ्याती जी॥

२-अणकम्पा ढाल ११ गा० ४०-४१-४२ :

किणही जीव नें खपकरनें बचायो, किण ही जीव उपजायनें कीधो मोटों।
जो धर्म होसी तो दोयां नें धर्म होसी, जो तोटों होसी तो दोयां ने तोटों॥
बचावणवाला विचें तो उपजावणवालों, सांप्रत दीसें उपगारी मोटों।
यांरो निरणो कीयां विण धर्म कहें छें, त्यांरों तो मत निकेवल खोटों॥
बचावणवालो नें उपजावणवालों, अें तो दोनूं संसार तणां उपगारी।
एहवा उपगार करें आमां साहमां, तिण में केवली रो धर्म नहीं छे लिगारी॥

उन्हें अन्तराय होता है। इसलिये यह सावद्य दया भी मुक्ति का मार्ग नहीं है[1]। सावद्य दान से दया की उत्थापना होती है और सावद्य दया से अभय दान का लोप होता है, इसलिये ये दोनों सांसारिक हैं[2]। जहाँ किसी की हिंसा नहीं होती, वह दया और संयमी दान ये ही मोक्ष के मार्ग हैं। भगवान् ने इन्हीं को धर्म-सम्मत कहा है[3]।

: ६ : श्रद्धावाद के पथ पर

आचार्य भिक्षु के पास श्रद्धा का भी अमित बल था। वे जितने तार्किक थे उतने ही श्रद्धालु। श्रद्धा और तर्क के संगम में ही व्यक्ति का दृष्टिकोण पूर्ण बनता है। कुसुम्भा स्वयं गल कर दूसरों को रंगता है। भक्त-हृदय का गीलापन दूसरों को स्निग्ध कर देता है। आचार्य भिक्षु की अटल आस्था इस कोटि की है कि वे भगवान् महावीर और उनकी वाणी पर स्वयं को न्यौछावर कर चलते हैं। उनके समर्पण की भाषा यह है—प्रभो! आपने सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप को मुक्ति का मार्ग कहा है। मैं इनके सिवा और किसी तत्त्व को धर्म नहीं मानता। मैं अर्हन्त को देव, निर्ग्रन्थ को गुरु और आपके

१-व्रताव्रत ढा० १२ गा० ४४-४७ :

भेषधारी थापे सावद्य दांन नें, तिण दांन सूं दया उठ जाय हो।
वले दया कहे छ काय बचावीयां, तिण सूं दांन उथप गयो ताय हो॥
छ काय जीवां नें जीवां मारनें, कई दांन दे संसार रे मांय हो।
तिणरें छ काय जीवां तणी, घट में दया उठें नही काय हो॥
कोई दांन देवें तिण नें बरज नें, जीवा बचावें छ काय हो॥
ते जीव बचायां दांन उथपें, त्यां सूं न्यारा रह्यां सुख थाय हो॥
छ काय जीवां नें मारे दांन दें, तिण दांन सूं मुगत न जाय हो।
वले फिर बचावें छ काय नें, तिण सूं कर्म कटें नहीं ताय हो॥

२-व्रताव्रत ढा० १२ गा० ४८ :

सावद्य दांन दीयां दया उथपे, सावद्य दया सुं उथपे अभेदांन हो।
ते सावद्य दया दांन संसारनां, त्यांनें ओलखें तें बुधवान हो॥

३-व्रताव्रत ढा० १२ गा० ४६ :

त्रिविधे त्रिविधे छ काय हणवी नहीं, आ थे दया कही जिण राय हो।
दांन देंणों सुपातरने कह्यो, तिणसूं मुगत सुखे सुखे जाय हो॥

द्वारा प्ररूपित मुक्ति-मार्ग को ही धर्म मानता हूँ। मेरे लिये और सब भ्रमजाल है। मेरे लिये आपकी आज्ञा ही सर्वोपरि प्रमाण है[1]।

जिसने आपकी आज्ञा को पहचान लिया, उसने आपके मौनको पहचान लिया। जिसने आपके मौन को पहचान लिया, उसने आपको पहचान लिया। जिसने आपको पहचान लिया, वह दुर्गति से बच गया। जिसने आपकी आज्ञा को नहीं पहचाना, उसने आपके मौन को नहीं पहचाना। जिसने आपके मौन को नहीं पहचाना, उसने आपको नहीं पहचाना। जिसने आपको नहीं पहचाना, वह दुर्गति से नहीं बचता। कई लोग आपकी आज्ञा के बाहर भी धर्म कहते हैं और आपकी आज्ञा में भी पाप कहते हैं। वे दोनों ओर से डूब रहे हैं। आपका धर्म आपकी आज्ञा में है। आपकी आज्ञा के बाहर आपका धर्म नहीं है। जो जिन-धर्म को जिन-आज्ञा के बाहर बतलाते हैं, वे मूढ़ हैं। आप अवसर देखकर बोले, और अवसर देखकर मौन रहे। जिस कार्य में आपकी आज्ञा नहीं है उस कार्य में धर्म नहीं है[2]।

सूरदास और मीरा के सर्वस्व कृष्ण तथा तुलसी के सर्वस्व राम थे, वैसे ही भिक्षु के सर्वस्व महावीर थे। वे स्वयं को महावीर के सन्देश का वाहक मानते थे। एकबार एक व्यक्ति ने पूछा—महाराज! आप इतने जनप्रिय

१-वीर सुनो मोरी बीनती। ढा० १ गा०६, ७ :

अध्येन अठावीसमां उत्तराध्येन में, मोक्ष मार्ग कह्या च्यार।
ग्यान दर्शन चरित्र नें तप विना, नहिं श्रद्धूं धर्म लिगार॥
देव अरिहंत निग्रंथ गुरु माँहरे, केवलीए भाषित धर्म।
ए तीनूंई तत्व सेंठाकर झालीया, और छोड़ दिया सहु मर्म॥

२-व्रताव्रत ढा० १२ गा० ३६-४३ :

जिण ओलख लीधी आपरी आगना, जिण ओलख लीधो आपरी मून हो।
तिण आप नें ओलखे लीया, तिणरी टलगी माठी २ जून हो॥
जिण अग्यां न ओलखी आपरी, आपरी नहीं ओलखी मून हो।
तिण आप नें ओलख्या नहीं, तिणरें वधसी माठी२ जून हो॥
केई जिण आगना वारें धर्म कहें, जिण आग्यां मांहे कहें छें पाप हो।
ते दोनूं विध बूडें छें बापड़ा, कूडों कर २ अग्यांनो विलाप हो॥
आपरो धर्म आपरी आग्या मझे, आपरो धर्म नहीं आपरी आग्या बार हो।
जिण धर्म जिण आग्या बारें कहें, ते पूरा छें मूंढ गिवार हो॥
आप अवसर देखीनें बोलीया, आप अवसर देखे साझी मून हो।
जिहां आप तणी आगना नहीं, ते करणी छें जावक जबून हो॥

क्यों हैं ? आपने कहा—एक पतिव्रता स्त्री थी। उसका पति विदेश में था। बहुत दिनों से उसे पति का कोई समाचार नहीं मिला। एक दिन अकस्मात् एक समाचारवाहक आया और उसे उसके पति का सन्देश दिया। उसे अपार हर्ष हुआ। उसके लिये वह आकर्षण का केन्द्र बन गया। हम भगवान् के सन्देशवाहक हैं। लोग भगवान् के भक्त हैं। भगवान् का सन्देश सुनने के लिये आतुर हैं। हम गाँव-गाँव में जाते हैं और लोगों को भगवान् का सन्देश सुनाते हैं। हमारे प्रति जनता के आकर्षण का यही हेतु है[1]।

आचार्य भिक्षु की श्रद्धा आलोचक-बुद्धि से जुड़ी हुई थी। उन्होंने अनेक गुरुओं को देखा-परखा। आखिर स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य रुघनाथ जी को अपना गुरु चुना। उनके पास जैनी दीक्षा स्वीकार की। आठ वर्ष तक उनके संघ में रहे। चालू परम्परा और आचार में कुछ मतभेद हुआ। साध्य और साधन की विचारधारा भी नहीं मिल सकी। फलतः वे अपने आचार्य से पृथक् हो गये। गुरु का उनके प्रति स्नेह था, और उनका गुरु के प्रति। फिर भी आलोचक बुद्धि आचार-भेद को सहन न कर सकी। वे अपने आचार्य के प्रति कृतज्ञ रहते हुए भी उनके विचारों की आलोचना किये बिना नहीं रहे।

भगवान् महावीर से बढ़कर उनके लिये कोई आराध्य नहीं था। एक ओर उन्होंने कहा—मुझे भगवान् महावीर का ही आधार है और किसी का नहीं। दूसरी ओर वे भगवान् महावीर की भी एक जगह आलोचना करते हैं। भगवान् ने गोशालक को बचाने के लिये शीतल तेजोलेश्या नामक योगशक्ति का प्रयोग किया और वैश्म्यायन ऋषि गोशालक को उष्ण तेजोलेश्या से मार रहा था, उनने उसे उबार लिया। आचार्य भिक्षु की साध्य-साधन की मीमांसा से यह कार्य आत्मयुक्ति का प्रमाणित नहीं होता। इसलिए उन्होंने कहा—इस प्रसंग में भगवान् की वीतराग साधना में चूक हुई, क्योंकि शक्ति का प्रयोग शुद्ध साधन नहीं है[2]। इस आलोचना के लिये उन्हें बहुत कुछ सहना पड़ा। उनके उत्तराधिकारी आचार्य भारमलजी ने उनसे प्रार्थना की—गुरुदेव! यह पद बहुत ही कटु है। आपने कहा—कटु तो है, पर सच से परे तो नहीं? भारमलजी ने कहा—नहीं। तब आपने कहा—रहने दो! यह निर्भीक आलोचना क्या की, मानो अपने लिये उन्होंने विरोध का मोर्चा खड़ा कर लिया। पर इससे उनकी

१-दृष्टान्त : ८७

२-अनुकम्पा ढा : ६ गा० १२ :

छ लेस्या हूंती जद वीर में जी, हूंता आठोंई कर्म।
छदमस्थ चूका तिण समें जी, मूर्ख थापं धर्म॥

सच्चाई का श्रोत फूट पड़ता है। श्रद्धा और आलोचना में कोई खाई नहीं है, यह उन्होंने प्रमाणित कर दिया।

"शत्रोरपि गुणा वाच्याः, दोषो वाच्या गुरोरपि"—यह विशाल चिन्तन उनकी इस कृति से साकार बन गया।

: ७ : धर्म का व्यापक स्वरूप

जैन-धर्म पर आचार्य भिक्षु की अगाध श्रद्धा थी, पर वे जैन-धर्म को संकुचित अर्थ में नहीं मानते थे। उनकी वाणी है—भगवान् का मार्ग राजमार्ग है। वह कोई पगडंडी नहीं जो बीच में ही रुक जाय। वह तो सीधा मोक्ष का मार्ग है[1]।

वे धर्म को एक मानते थे। मिथ्या दृष्टि की निरवद्य प्रवृत्ति धर्म है, इसका दृढ़तापूर्वक समर्थन कर उन्होंने जैन-परम्परा के उदार दृष्टिकोण को बहुत ही प्रभावशाली बना दिया। अमुक सम्प्रदाय का अनुयायी बनने से ही धर्म होता है अन्यत्र नहीं, इस भ्रमपूर्ण मान्यता का उनकी स्पष्ट वाणी से स्वतः खण्डन हो गया[2]। धर्म और सम्प्रदाय एक नहीं है, इस सचाई की उन्हें गहरी अनुभूति थी। उन्होंने कहा—निरवद्य प्रवृत्ति धर्म है, भले फिर वह जैन की हो या जैनेतर की। सावद्य प्रवृत्ति अधर्म है, भले फिर वह जैन की हो या जनेतर की[3]।

जो व्यक्ति जैन-दर्शन की व्याख्या को अक्षरशः न माने, उसमें वैराग्य और सदाचार की भावना नहीं जागती, यह मानना दुराग्रह की चरम सीमा है। जैन-दर्शन सचमुच ही धर्म की अखण्डता को स्वीकार करता है। सम्प्रदाय धर्म को विभक्त नहीं कर सकते। दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है—ज्ञान, चारित्र और तप की सम्यक् आराधना होती है, तो व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है, भले फिर वह किसी भी वेष या सम्प्रदाय में हो। इसके प्रमाण गृहलिंग सिद्ध और अन्यलिंग सिद्ध हैं। सम्यक् दर्शन, चारित्र आदि की पूर्णता प्राप्त होने पर गृहस्थ के वेष में भी और जैनेतर सम्प्रदाय में भी मुक्ति प्राप्त हो सकती

१-आचार्य सन्त भीखणजी पृ० ८५

२-सूत्रकृताङ्ग १, १ : १६ :

आगारमावसन्ता वि अरण्णा वा वि पव्वया ॥
इमं दरिसणमावन्ना, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥

३-भ्रम विध्वंसनम्, मिथ्यात्वी क्रियाधिकार पृ० १-४६

है[1]। जैन-आगमों में 'असोचा' केवली का वर्णन है[2]। जिस व्यक्ति को धर्मोपदेश सुनने का अवसर नहीं मिला, किन्तु सहज भाव से ही सरलता, क्षमा, सन्तोष, आदि की अराधना करते-करते जो भावना वल से सम्यग्दर्शन, चारित्र, पा मुक्त हो जाता है, उसके क्रमिक विकास का हेतु धर्म की अराधना है, सम्प्रदाय विशेष का स्वीकार नहीं[3]।

आचार्य भिक्षु की व्याख्या में जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप है वही जैन धर्म है, और जो जैन धर्म है वही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप है। कुछ लोग मिथ्या दृष्टि या जैनेतर व्यक्ति की क्रियामात्र को अशुद्ध मानते थे। आचार्य भिक्षु ने उनके अभिमत की आलोचना की। आपने कहा—जो लोग मिथ्या दृष्टि की निरवद्य क्रिया को भी अशुद्ध मानते हैं, उनकी बुद्धि सही मार्ग पर नहीं है। मिथ्या दृष्टि की निरवद्य क्रिया में कोई गुण नहीं—यों कहने वालों की बुद्धि भ्रष्ट हो गई

१-नन्दी सूत्र ४२ :

अन्नलिंग सिद्धा, गिहीलिंग सिद्धा

२-भगवती श० ६ ३० ३१

३-मिथ्यात्वी करणी निर्णय ढा० २ गा० ४६-४७-४६ :

इण रीत पहिली तो समकत पांमीयों रे,
विभंग अनांण रो हुवों अवध गिनांन रे।
अनुक्रमें हुवों छें केवली रे,
पछें गयो छें पांचमी गत परधान रे॥
असोचा केवली हुवा इण रीत सूं रे,
मिथ्याती थके करणी तिण कीध रे।
कर्म पतला पाड्या मिथ्याती थके रे,
तिण सूं अनुक्रमे शिवपुर लीध रे॥
ज्यो लेस्या रा भला परिणांम हूंता नहीं रे,
तो किण विध पामंत विभग अनांण रे।
इत्यादिक कीधां सूँ हूवो समकती रे,
अनुक्रमे पहुंतो छें निरवांण रे

है[1]। आचार्य भिक्षु ने कहा—भगवान् का धर्म समुद्र की तरह विशाल और आकाश की तरह व्यापक है। जो धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है, भगवान् ने जिसकी व्याख्या की है वह एक शब्द में है अहिंसा। भगवान् ने कहा—प्राण, भूत, जीव, और सत्वों को मत मारो, उनपर अनुशासन मत करो, उन्हें दास-दासी बनाकर अपने अधीन मत करो। उन्हें परिताप मत दो, उन्हें कष्ट मत दो, उन्हें उपद्रव मत करो, यही धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है[2]। यह धर्म सबके लिये है—जो धर्म के आचरण के लिये उठे हैं या नहीं उठे हैं, जो धर्म सुनना चाहते हैं या नहीं चाहते हैं, जो प्राणियों को दण्ड देने से निवृत हुए हैं या नहीं हुए हैं, जो उपाधि-युक्त हैं या उपाधि-रहित हैं, जो संयोग से बंधे हुए हैं या नहीं हैं[3]।

आचार्य भिक्षु ने अपने जीवन को भगवान् की इस वाणी का सफल अनुवाद बना डाला।

: ८ : आग्रह से दूर

आचार्य भिक्षु में अपने सिद्धान्त के प्रति जितना आग्रह था, उतना ही दुराग्रह से दूर रहने का तीव्र प्रयत्न। उन्होंने यही सीख दी—खींचातानी से बचो, कोई तत्त्व समझ में न आए तो दुराग्रह मत करो, बहुश्रुत व्यक्तियों से

१-मिथ्यात्वी करणी निर्णय ढा० १ गा० २६-३० :

निरवद करणी करें पहिले गुण ठाणें,
तिण करणी नें जावक जांणें असुध।
इसड़ी परूपणा करें अग्यानी,
तिणरी भिष्ट हुई छें सुधने बुध॥
पहिले गुण ठाणें निरवद करणी करें छें
तिण करणी सरायां में दोषण जाणें।
अतिचार लागो कहें समकित मांहे,
तिणरो न्याय जाण्यां विना मूरख ताणें॥

२-आचाराङ्ग १।४।१ :

से बेमि जे अइया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा, अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णविंति, एवं परूविंति-सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघितव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा।

३-आचाराङ्ग १।४।१

समझो, फिर भी समझ में न आये तो उसे ज्ञानीगम्य कहकर छोड़ दो। चिन्तन भले करो—पर दुराग्रह से बचते रहो[१]। उन्होंने यह सीख ही नहीं दी, उनके चरण भी इसी पथ पर आगे बढ़े।

उन्होंने एक दिन कहा—दस प्रकार का श्रमण-धर्म। तब पास बैठा भाई बोल उठा—नहीं, दस प्रकार का यति-धर्म। आपने कहा—भले दस प्रकार का महात्मा-धर्म कहो, मुझे क्या आपत्ति है[२]। शब्दों के जाल में फँसनेवाला तत्त्व तक नहीं पहुँच पाता। उन्होंने कहा—दया दया सब लोग पुकारते हैं और यह सच है कि दया धर्म है पर मुक्ति उन्हें ही मिलेगी जो दया को पहचान कर उसका पालन करेंगे[३]।

वे शाब्दिक उलझन में पड़नेवालों को सदा सावधान करते रहे। उनकी बोध-वाणी है कि गाय, भैंस, आक और थूहर इन चारों के दूध होता है। शब्द को पकड़नेवाला गाय के दूध की जगह आक का दूध पी ले तो परिणाम क्या होगा? हमें तत्त्व तक पहुँचना चाहिये, भले फिर उसका माध्यम कोई भी शब्द बने[४]।

कोरे शब्दों को पकड़नेवालों की स्थिति का चित्रण उनकी कृतियों में अनेक स्थलों पर मिलता है।

एक सास ने बहू से कहा—जाओ, पीपल ले आओ। बहू गई और मोटी रस्सी से पीपल के तने को बाँध, उसे खींचने लगी पर वह एक इंच भी नहीं

१-मर्यादा मुक्तावली

२-दृष्टान्त : २१३

३-अनुकम्पा ढा० ८ दू १ :

दया २ सहू कोई कहैं, ते दया धर्म छें ठीक।
दया ओलख ने पालसी, त्यांनें मुगत नजीक॥

४-अनुकम्पा ढा० १ दू १-४ :

अणुकंपा नें आदरे, कीजो घणा जतन।
जिणवर ना धर्म मांहिली, समकत पाय रतन॥
गाय भेंस आक थोर नों, ए च्यारुंई दूध।
तिम अणुकम्पा जांणजों, राखे मन में सूध॥
आक दूध पीधां थकां, जुदा करे जीव काय।
सावद्‌ अणुकंपा कीयां, पाप कर्म बंधाय॥
भोलेंई मत भूलजों, अणुकंपा रे नांम।
कीजों अंतर पारखा, ज्यूं सीझे आतम काम॥

सरका। उसे खींचते-खींचते उसके हाथ छिल गये। वह साथ-साथ गाती गई कि पीपल चलो मेरी सास तुझे बुला रही है। गाते-गाते वह रोने लगी। एक समझदार आदमी आया और उसने उससे पूछा—बहन रोती क्यों है? उसने सारा हाल कह सुनाया। उसने उसे सास का आशय समझाया और कहा—बहन! पीपल नहीं चलेगा। इसकी एक डाली तोड़ ले जाओ, तुम्हारा काम बन जायगा[1]।

शब्दों की पकड़ न हो, यह अनाग्रह का एक पक्ष है। इसका दूसरा पक्ष है आवेशपूर्ण तत्त्व-चर्चा से बचाव करना। स्वामी जी के पास कुछ लोग आए। उनमें आपस में चर्चा चली कि पर्याप्ति और प्राण जीव हैं या अजीव? किसी ने कहा—जीव हैं और किसी ने कहा अजीव। इस प्रकार आपस में खींचातानी होने लगी। उन्होंने अन्त में स्वामी जी से पूछा—गुरुदेव! पर्याप्ति और प्राण जीव हैं या अजीव? स्वामी जी ने उनमें चल रही खींचातानी को देखकर कहा—जिस चर्चा में आग्रह हो उसे छोड़ देना चाहिये और चर्चा क्या काम है[2]?

आग्रह से मुक्ति मिल गई।

: ९ : कुशल पारखी

आचार्य भिक्षु वैयक्तिक जीवन में जितने आध्यात्मिक थे, उतने ही सामुदायिक जीवन में व्यावहारिक थे। उनके जीवन में विनोद हिलोरें मारता था। वे कभी-कभी तत्त्व की गहराई को विनोद के तत्त्वों से भर देते थे।

एक चारण को लोगों ने उभाड़ा कि तू भक्तों को लपसी खिलाता है उसमें भीखनजी पाप मानते हैं। वह स्वामी जी के पास आया और बोला—भीखन जी! मैं भक्तों को लपसी खिलाता हूँ उसमें क्या होता है? स्वामी जी ने कहा—जितना गुड़ डाला जाता है उतनी ही मिठास होती है[3]। वह इस तत्त्वको ही पचा सकता था।

एक व्यक्ति ने ब्राह्मणों से कहा—भीखन जी दान देने का निषेध करते हैं। इसलिये हम उन्हें दान नहीं देंगे। वे स्वामी जी के पास आये और अपना रोष प्रगट किया। स्वामी जी ने कहा—जिन लोगों ने ऐसा कहा है वे अगर पाँच रूपये दें तो भी मेरी मनाही नहीं है। मुझे मनाही करने का त्याग है[4]।

१-अनुकम्पा ढाल ८ गा० ३२
किणहीक ठोड़ें जीव बतावें, किणहिएक ठोड़ संका मन आंणें।
समझ पड्यां विण सरधा परूपें, पीपल बांधी मूर्ख ज्यूं तांणें॥
२-दृष्टान्त : २५६
३-दृष्टान्त : २०
४-दृष्टान्त : ६५

उनका रोष खुशी में परिणत हो गया। तत्त्व का रहस्य उतना ही खुलना चाहिये, जितना सामनेवाले को दीख सके।

धर्म को उन्होंने सबके लिये समान माना। धर्म करने का सबको समान अधिकार है इसका समर्थन किया। फिर भी कहीं कहीं उनके विचारों में जो जातिवाद के समर्थन की छाया दीख पड़ती है वह व्यावहारिकता से संघर्ष मोल न लेने की वृत्ति है। उन्होंने सामाजिक व्यवहार को तोड़ने का यत्न नहीं किया। घृणित मानी जानेवाली जातियों के घरों से भिक्षा लेने को अनुचित बतलाया[1]। वे परमार्थ और व्यवहार की सीमा को धूप और छाँह की भाँति मानते थे, जो साथ रहते हुए भी कभी नहीं मिलते[2]।

: १० : क्रांत वाणी

आचार्य भिक्षु मानव थे। वे मानवीय दुर्बलताओं से सर्वथा मुक्त भी नहीं थे। उनकी विशेषता इसीमें है कि वे उनसे मुक्त होना चाहते थे। उनकी वाणी में कटुता है, प्रहार है और बाणों की वर्षा है। वे व्यक्तिगत आक्षेपों से बहुत बचे हैं, पर अवगुण की धज्जियां उड़ाते समय वे बहुत ही उग्र बन जाते हैं। एक व्यक्ति ने कहा—भीखन जी कुछ लोग आपमें बहुत दोष निकालते हैं। आपने कहा—दोषों को रखना नहीं है। उन्हें निकाल फेंकना है। कुछ प्रयत्न मैं करता हूँ और कुछ वे कर रहे हैं। वे मेरा सहयोग ही तो कर रहे हैं[3]। इसमें उनकी दुर्बलताओं पर विजय पाने की सतत् साधना बोल रही है।

आचार्य भिक्षु असंयम और संयम में भेद-रेखा खींचते समय कभी-कभी ऐसे प्रतीत होते हैं मानो उनका दिल दया से द्रवित न हो[4]। बहुधा प्रश्न ऐसे होता है कि इस विचारधारा का सामाजिक जीवन पर क्या असर होगा! प्रश्न अहेतुक भी नहीं है। संसार के प्रति उदासीनता लानेवाला विचार सामाजिक व्यवस्था में कहीं बाधा भी डाल सकता है। पर इन सबके उपरान्त

१-साधु-आचार की चौपाई

२-अनुकम्पा ढाल ६ गा० ७० :

हिंसा री करण में दया नहीं छें, दयारी करणी में हिंसा नांही जी।
दया नें हिंसा री करणी छें न्यारी, ज्यूं तावड़ो नें छांही जी॥

३-दृष्टान्त : १३

४-अनुकम्पा ढाल ४ गा० २१-२२

ग्यांन दर्शन चारित्र नें तप, यां रो करें कोई उपगार हो।
आप तिरे पेंलों बधरे, दोयां रो खेवों पार हो॥
ए च्यार उपगार छें मोटका, तिणमें निश्चे जांणों धर्म हो।
शेष रह्या कार्य संसार नां, तिण कीधां बंधसी कर्म हो॥

हमें वह भी तो समझना होगा जो आचार्य भिक्षु हमें समझाना चाहते थे। वे संयम और असंयम के बीच भेद-रेखा खींच रहे थे। उस समय जो विचार उन्होंने दिये, उनका उद्देश्य सामाजिक सहयोग का विघटन नहीं, किन्तु संयम और असंयम का पृथक्करण या बन्धन और मुक्ति का विश्लेषण है[1]।

उनके दयार्द्र मानस का परिचय हमें तब मिलता है जब हम उनके सेवा भाव की ओर दृष्टि डालते हैं। उन्होंने कहा—जो साधु रोगी, वृद्ध और ग्लान साधुओं की सेवा-शुश्रूषा नहीं करता, वह भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करता है। उसको महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है। उसके इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।

एक साधु आहार-पानी की भिक्षा लाए, उसका कर्तव्य है कि वह दूसरे साधुओं को संविभाग दे। किन्तु यह मैं लाया हूँ, ऐसा सोच जो अधिक लेता है, उसे चोरी का दोष लगता है और उसका विश्वास उठ जाता है[2]।

एक बार मुनि खेतसी जी को अतिसार हो गया। स्वामी जी ने स्वयं उन्हें सम्हाला और उनकी परिचर्या की[3]। रोगी साधुओं के लिये दाल मँगवाते और उन्हें चखकर अलग-अलग रख देते। किसी में नमक अधिक होता, किसी में

---

१ अनुकम्पा ढाल ६ गा० ७०-७४ :
हिंसा री करणीमें दया नहीं छें, दयारी करणीमें हिंसा नांही जी।
दया नें हिंसा री करणी छें न्यारी, ज्यूं तावड़ो ने छांही जी॥
और वसत में भेल हुवें पिण, दया में नहीं हिंसा रो भेलो जी।
ज्यूं पूर्व नें पिछम रो मारग, किण विध खायें मेलो जी॥
केई दया नें हिंसा री मिश्र करणी कहें, ते कूड़ा कुहेत-लगावें जी।
मिश्र थापण नें मूढ़ मिथ्याती, भोला लोकां नें भरमावें जी।
जो हिंसा कीयां थी मिश्र हुवें तो, मिश्र हुवें पाप अठारो जी।
एक फिरयाँ अठारे फिरें छें, कोई बुधवंत करजो विचारो जी॥
जिन मारग री नींव दया पर, खोजी हुवें ते पावे जी।
जो हिंसा मांहे धर्म हुवे तो, जल मथीयां घी आवै जी॥
२-अनुकम्पा ढाल ८ गा०-४५ :
रोगी गरढ़ा गिलांण साधरी वीयावच,
साध न करे तो श्री जिण आगना बारें।
महा मोहणी कर्म तणों बंध पाड़ें,
इहलोक नें परलोक दोनूं विगाड़ें॥
३- स्त : २५३

कम। रोगी को कौनसी जँचे, कौन सी नहीं, इसका पूरा ध्यान रखते[1]। उनकी शासन व्यवस्था यह है कि कोई साधु रोगी साधु की परिचर्या करने में आना-कानी करे वह संघ में रहकर भी संघ का नहीं है। उसे संघ से बहिष्कृत कर देना चाहिये।

जिन-शासन में 'ग्लान की सेवा ही सार है' और 'जो ग्लान की सेवा करता है वह मुक्ति प्राप्त करता है'[2]। जैन-परम्परा के इस आदर्श की उन्होंने कभी विस्मृति नहीं की। उनकी भूमिका साधु-जीवन की थी। उनका साध्य आत्म-मुक्ति था। इसलिये उन्होंने जो कहा वह साधु-जीवन को लक्ष्य कर कहा। यह वाणी किसी समाज-नेता की होती तो वह समाज को लक्ष्य कर कहता। यह भूमिका-भेद है। समाज की भूमिका में करुणा प्रधान होती है और अहिंसा गौण। आत्म-मुक्ति की भूमिका में अहिंसा प्रधान होती है और करुणा गौण। सामाजिक प्राणी जहाँ अहिंसा की उपेक्षा भी कर देता है, वहाँ उसे करुणा की अपेक्षा होती है। आत्म-मुक्ति की साधना करनेवाला करुणा की अपेक्षा वहीं रखता है जहाँ अहिंसा की उपेक्षा न हो। करुणा के भाव से भावित व्यक्तियों का प्रेरक वाक्य यह रहा—मैं राज्य की कामना नहीं करता, मुझे स्वर्ग और मोक्ष की भी कामना नहीं है। दुःख से पीड़ित प्राणियों का दुःख दूर करूँ, यही मेरी कामना है[3]।

इसमें करुणा का अजस्र स्रोत है, पर उद्देश्य का अनुगमन नहीं है। कोई भी मुमुक्षु अपवर्ग (मोक्ष) की इन शब्दों में उपेक्षा नहीं कर सकता। समाज की स्थापना का मूल परस्पर-सहयोग है। सहयोग की भित्ति को अवस्थित करने के लिये ही यह श्लोक रचा गया है। अपने उद्देश्य की सीमा तक यह बहुत ही मूल्यवान है, पर मोक्ष के साधनों पर विचार किया जाय तब यह विषय बहुत चिन्तनीय हो जाता है। वस्तुतः दुःख क्या है ? किस प्रकार का दुःख दूर करना मोक्ष के अनुकूल है ? दुःख को दूर कैसे किया जाय ? किसलिये किया जाय ? आदि आदि। साधारण दृष्टि यह है कि प्रिय वस्तु का वियोग और अप्रिय का संयोग ही दुःख है। प्रतिकूल वेदना ही दुःख है। मोक्ष दृष्टि यह है कि बन्धन

१-दृष्टान्त : १७१

२-उत्तराध्ययन अ० २ श्लोक ३ नेमिचन्द्रीय वृत्ति पत्र १८

गिलाण वेयावच्च मे वेत्थ पवयणे सारं।
जो गिलाणं जाणइ सो मं दंसणेणं पडिवज्जइ॥

३-न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुखतप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

दुःख है। सामान्यतः माना जाता है कि प्रिय वस्तु का संयोग और अप्रिय वस्तु का वियोग सुख है। अनुकूल वेदना सुख है। मुमुक्षु लोग मानते हैं कि बन्धन-मुक्ति सुख है।

मनुष्य का ध्येय मोक्ष होना चाहिये, इस विचार में सभी आत्मवादी एकमत है। मोक्ष में राग-द्वेष, स्नेह आदि के बन्धन नहीं हैं, इसमें भी दो मत नहीं है। साध्य के निकट पहुँच शरीर से भी मुक्ति पा लेना है, यह भी विवादास्पद नहीं। मतभेद है इस बात में कि मोक्ष का साधन क्या है? साध्य समान होने पर भी साधन समान नहीं हैं।

जो आत्मवादी नहीं हैं, उनका साध्य कोरा सामाजिक अभ्युदय होता है। जिनका विश्वास आत्मवाद में है पर आचरणात्मक शक्ति का जिनमें पर्याप्त विकास नहीं हुआ है, उनका प्रधान साध्य—मोक्ष या आत्मा का पूर्ण विकास होता है, और गौण साध्य—सामाजिक अभ्युदय या आवश्यक भौतिक विकास। आत्मा में जिनका कोरा विश्वास ही नहीं होता, किन्तु जिनकी आचरणात्मक शक्ति पर्याप्त विकसित होती है, वे केवल आत्म-विकास को ही साध्य मानकर चलते हैं। ये जीवन की तीन कोटियाँ हैं। इनके विचारों को पृथक-पृथक दृष्टिकोणों से समझा जाय तो कोई उलझन नहीं आती। जीवन के इन तीन प्रकारों को, जब एक ही तुला से तोलने का प्रयत्न होता है, तब विसंगति उत्पन्न हो जाती है। आत्म-विकास का साधन है ब्रह्मचर्य। सामाजिक प्राणी विवाह करता है। अब्रह्मचर्य मोक्ष का साधन नहीं है। जिस आत्मवादी का साध्य मोक्ष होता है और वह ब्रह्मचारी रह नहीं सकता इसलिये वह विवाह करता है। चिन्तन काल में यह विसंगति प्रतीत होती है। आस्था और कर्म में विरोध की अनुभूति होती है। इस विसंगति का निवारण दो प्रकारसे किया जाता है। एक विचार है कि समाज के आवश्यक कर्म यदि अनासक्त भाव से किये जायें तो वे मोक्ष साधन के प्रतिकूल नहीं होते। दूसरा विचार है कि आचरण का पक्ष प्रबल होने पर ही आस्था और कर्म की विसगति मिटती है। साधना के प्राथमिक चरण में उसका निवारण नहीं होता। जब आचरण का बल विकासशील होता है तब आस्था और कर्म की दूरी मिट जाती है।

आचार्य भिक्षु इस दूसरी विचारधारा के समर्थक थे। उन्होंने आस्था और कर्म की विसंगति को मिटाने के लिये साधन के विचार को गौण नहीं किया। उन्हें यह ज्ञात था कि आस्था का परिपाक आचरण से पहले होता है। आचरण के साथ आस्था अवश्य होती है, पर आस्था के साथ आचरण नहीं भी होता। आचरण के अभाव में आस्था को विपरीत बताना उन्हें अभीष्ट नहीं था। आस्था और कर्म में संगति लाने के लिये वे मोक्ष के असाधन को साधन मानने

के लिये प्रस्तुत नहीं हुए। इसी भूमिका में उनके विचारों की कुछ महत्वपूर्ण रेखाएँ निर्मित हुईं, जिनकी प्रतिक्रिया प्राचीन भाषा में है कि भीखण जी ने दया-दान को उठा दिया। ये मरते प्राणी को बचाने की मनाही करते हैं; आदि आदि। आज की भाषा में उनकी प्रतिक्रिया है कि उन्होंने सामाजिक जीवन को लौकिक और लोकोत्तर या आध्यात्मिक रूप में विभक्त कर दिया, आदि आदि। इन प्रतिक्रियाओं का उत्तर हमें उनके साध्य-साधन की सैद्धान्तिक चर्चा से ही लेना है; इसलिये हमें उनके साध्य-साधनवाद के कुछ महत्वपूर्ण अंशों पर दृष्टिपात करना होगा।



अध्याय : ३

साध्य-साधन के विविध पहलू

: १ : जीवन और मृत्यु

मनुष्य की पहली जिज्ञासा है जीवन और अन्तिम जिज्ञासा है मृत्यु। शेष जिज्ञासाएँ इस द्वन्द्व के बीच में हैं।

जीवन क्या है? इससे पहले क्या था? मौत क्या है? उसके पश्चात् क्या होगा? सत्यान्वेषण की रेखा के ये प्रधान बिन्दु हैं। जीवन से पूर्व और मौत से पश्चात् क्या है और क्या होगा? इन प्रश्नों के समाधान में आचार्य भिक्षु की कोई नई देन है, यह मैं नहीं जानता। जीवन और मृत्यु हमारी दृष्टि के स्पष्ट कोण हैं। इनकी व्याख्या को उन्होंने अवश्य ही आगे बढ़ाया है। सामान्य धारणा के अनुसार जीवन काम्य है और मौत अकाम्य। प्राणियों में तीन एषणाएँ हैं, उनमें पहली है 'प्राणेषणा'। वैदिक ऋषियों ने कहा—"हम सौ वर्ष जिएँ"[1]। भगवान् महावीर ने कहा—"सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता[2]।" यही विचार मनोवैज्ञानिक सुखवाद का आधार बन गया। साधना की दृष्टि से भगवान् महावीर ने कहा—"जीवन और मृत्यु की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए[3]।" व्यास भी इसी भाषा में बोलते हैं—

१-यजुर्वेद-३६।२४

पश्येम शरदः शतम्।

.. अदीनाः स्याम शरदः शतम्।

२-दशवैकालिक ६।११

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं

३-सूत्र कृताङ्ग १।१०।२४

नो जीवियं नो मरणाभिकंखी।

"जीवन और मृत्यु का अभिनन्दन मत करो"[१]।

आचार्य भिक्षु की चिन्तन-दिशा स्वतन्त्र नहीं थी। उनका चिन्तन जैनागमों की परिक्रमा किये चला, पर परिक्रमा का मार्ग उन्होंने विस्तृत बना दिया। उन्होंने कहा—जीवन और मृत्यु अपने आपमें न काम्य है और न अकाम्य। ये परिवर्तन के अवश्यम्भावी चरण हैं। पहले चरण में प्राणी नये जीवन के लिए आता है और दूसरे में नये जीवन के लिये चला जाता है। पुद्गल की भूमिका में जीवन काम्य है और मृत्यु अकाम्य। आत्मा की भूमिका में जीवन और मृत्यु न काम्य है और न अकाम्य। असंयममय जीवन और मृत्यु अकाम्य हैं, संयममय जीवन और मृत्यु काम्य। निष्कर्ष की भाषा में असंयम अकाम्य है और संयम काम्य। काम्य और अकाम्य सापेक्ष हैं। इनका निर्णय साध्य के आधार पर ही किया जा सकता है।

साध्य दो विभागों में विभक्त है—जीवन या जीवन-मुक्ति। प्रवृत्ति का क्षेत्र है जीवन। उसका स्रोत है रागात्मक या द्वेषात्मक भाव या असंयम। मृत्यु जीवन का अनिवार्य परिणाम है, इसलिये जो जीना चाहता है, वह मरना भी चाहता है। परिणाम की दृष्टि से यही संगत है। जीव जीना चाहता है, मरना नहीं चाहता, यह रुचि की दृष्टि से ही संगत हो सकता है। किन्तु रुचि की अपेक्षा आचरण में अधिक बल होता है। अधर्म करनेवाला धर्म का फल चाहता है। आचरण अधर्म का और रुचि धर्म के फल की—यह संघर्ष है। इसमें विजयी आचरण होता है, वह रुचि को परास्त कर, जीव को अपने पीछे ले चलता है।

सच तो यह है कि जो मरना नहीं चाहता वह जीना भी नहीं चाहता। मृत्यु से मुक्ति वही पा सकता है, जो जीवन से मुक्ति पा सके। इस विवेक के बाद हम एक बार सिंहावलोकन करेंगे। रुचि की अपेक्षा सत्य यह है कि जीवन काम्य है, मृत्यु अकाम्य। आचरण की अपेक्षा सच यह है कि जिसे जीवन काम्य है उसे मृत्यु भी काम्य है, और जिसे मृत्यु अकाम्य है, उसे जीवन भी अकाम्य है। आचार्य भिक्षु ने इस साध्य की कसौटी पर साधन को परखा। परख का परिणाम उन्होंने इन शब्दों में रखा—"अध्यात्म की भाषा में जीवन साध्य नहीं है। साध्य है जीवन की मुक्ति, उसका साधन है संयम। इसलिये संयम ही काम्य है। असंयम जीवन-मुक्ति का साधन नहीं है, इसलिये वह अकाम्य है। असंयत जीवन भी अकाम्य है और उसे चलाने के

१-महाभारत शान्तिपर्व, २४५।१५ :
नाभिनन्देत मरणं, नाभिनन्देत जीवितम्।

साधन भी अकाम्य हैं। संयत जीवन भी काम्य है और उसे चलाने के साधन भी काम्य हैं। साधन वही होता है जो साध्य के सर्वथा अनुकूल हो। जीवन्-मुक्ति की साधना तभी हो सकती है जब कि जीवन टिके। जीवन अन्न और पानी के बल पर टिकता है। उनका अर्जन प्रवृत्ति से होता है, इसलिये सब काम्यों का मूल प्रवृत्ति है। इस तर्क के आधार पर जीवन-मुक्ति का साधन, जीवन का साधन, अन्न-पान, और उसका साधन प्रवृत्ति है। इसलिये ये सब काम्य हैं।

आचार्य भिक्षु ने इस कारण-परम्परा को पूर्ण सत्य नहीं माना। उन्होंने कहा—जीवन-मुक्ति का साध्य, संयत जीवन और अन्न-पान के अर्जन की प्रवृत्ति संयत हो तो यह क्रम साध्य के अनुकूल है, इसलिए काम्य हो सकता है। जीवन मुक्ति का साध्य, असंयत जीवन और अन्न-पान के अर्जन की प्रवृत्ति असंयत हो तो यह क्रम साध्य के अनुकूल नहीं है, इसलिये यह अकाम्य है। साध्य जीवन मुक्ति का न हो, जीवन और अन्न-पान के अर्जन की प्रवृत्ति असंयत हो वह तो अकाम्य है ही। यह दिशा साध्य और साधन दोनों से शून्य है। आचार्य भिक्षु के धर्म और अधर्म, अहिंसा और हिंसा के पृथक्करण की भेद-रेखा यही है। उन्होंने कहा है :

"जीव जीता है, वह अहिंसा या दया नहीं है। कोई मरता है, वह हिंसा नहीं है। मारने की प्रवृत्ति हिंसा है और मारने की प्रवृत्ति का संयम करना अहिंसा है[1]।"

उन्होंने दृष्टान्त की भाषा में कहा—चींटी जीवित रहे इसलिये आपने उसे नहीं मारा, यह अहिंसा या दया है तो हवा का झोंका आया, चींटी उड़ गई, आपकी दया भी उड़ गई। किसी का पैर टिका वह मर गई, आपकी दया भी मर गई। जो अहिंसा किसी जीव को जिलाने के लिये होती है वह उसकी मौत के साथ चली जाती है, और जो अपनी जीवन-मुक्ति के लिये होती है वह संयम में परिणत हो जाती है।

अचार्य भिक्षु की भाषा में संयम और धर्म अभिन्न हैं। जीवन और मृत्यु की इच्छा असंयम है, इसलिये वह अधर्म है। वह अहिंसा नहीं है, किन्तु मोह है।

१-अणुकम्पा ढाल ५ गा० ११

जीव जीवें ते दया नहीं, मरें ते हो हिंसा मत जांण।
मारणवालां नें हिंसा कही, नहीं मारें हों ते तो दया गुण खांण॥

मोहात्मक प्रवृत्ति से जीवन की परम्परा का अन्त नहीं होता किन्तु वह बढ़ती ही है[१]।

मोह मूढ़ मानव का साध्य जीवन बन जाता है। जो जीवन को साध्य मान कर जीता है, वह पवित्रता या संयम को प्रधान नहीं मान सकता। संयम को प्रधानता वही दे सकता है जिसका साध्य जीवन-मुक्ति हो।

एक आदमी लोहे का लाल-लाल तपा हुआ एक गोला संडासी से पकड़ कर लाता है और कहता है—

हे धर्म संस्थापको! लो इस गोले को एक क्षण के लिए अपनी हथेली में लो। यह कहकर उस आदमी ने गोले को आगे बढ़ाया परन्तु सबने अपने हाथ पीछे खींच लिए। यह देख उसने कहा—

"ऐसा क्यों? हाथ क्यों खींच लिए?"

"हाथ जल उठेंगे।"

"क्या होगा जलेंगे तो?"

"वेदना होगी।"

जैसे तुम्हें वेदना होती है वैसे क्या औरों को नहीं होती?

"सब जीवों को अपने समान समझो। सब जीवों के प्रति इसी गज और माप से काम लो[२]।"

१-अणुकम्पा ढाल ३ दू १

वांछे मरणों जीवणों, तो धर्म तणों नहीं अंस।
ए अणुकम्पा कीधां थकां, वधे कर्म नो वंस॥

२-अणुकम्पा ढाल ६ गा० ६०-६५ :

केइ जीव मार्यां मांहे धर्म कहे छें, ते पूरा अग्यांनी ऊधा जी।
त्यांनें जांग पुरुष मिलें जिण मारग रो, किण विध बोलावें सूधा जी॥
लोह नो गोलो अगन तपाए, ते अगन वर्ण करें तातो जी।
ते पकड संडासें आयों त्यां पासें, कहें बलतो गोलो थें झालो हाथो जी॥
जब पापंडीयां हाथ पाछो खांच्यो, जब जांण पुरुष कहें त्यांनें जी।
थे हाथ पाछो खांच्यों किण कारण, थांरी सरधा म राखों छानें जी॥
जब कहें गोलो म्हें हाथे ल्यां तों, म्हांरो हाथ बलें लागें तापो जी।
तो थांरो हाथ बालें तिणनें पाप के धर्म, जब कहें इणनें लागो पापो जी॥
थांरो हाथ बालें तिणनें पाप लागें तो, ओरांनें मार्यां धर्म नांही जी।
थें सर्व जीव सरीषा जांणों, थे सोच देखो मन मांहि जी॥
जे जीव मार्यां में धर्म कहें तें, रुलें काल अनंतो जी।
सूयगडाङ्ग अधेन अठारमें, तिहां भाष गया भगवंतो जी॥

: १ : आत्मौपम्य

भगवान् महावीर ने कहा—"सब जीवों को आत्मतुल्य समझो[1]"।

महात्मा बुद्ध ने कहा—"दण्ड से सब डरते हैं, मृत्यु से सब भय करते हैं। दूसरों को अपनी तरह जान कर, मनुष्य किसी दूसरे को न मारे, न मरवाए[2]"।

योगीराज कृष्ण ने कहा—"जो योगयुक्त आत्मा हैं, जो सर्वत्र समदर्शी है, वह अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में रखता है[3]।"

यह आदर्श वाणी है—साधना के पहले सोपान में आदर्श और व्यवहार का पूर्ण सामञ्जस्य नहीं होता, वह सिद्धिकाल में होता है। मान्यता और आचरण में विरोध नहीं ही होता, ऐसा नहीं मानना चाहिए। मनुष्य जो कुछ मानता है वही करता है, यह एकान्त सत्य नहीं है। मान्यता यथार्थ होने पर भी कुछ ऐसी अनिवार्यताएँ या दुर्बलताएँ होती हैं कि मनुष्य मान्यता के अनुरूप आचरण नहीं कर पाता। वीतराग आत्मा के सिद्धान्त और आचरण में कोई विसंगति नहीं होती। अवीतराग की पहचान सात बातों से होती है[4]—(१) वह हिंसा करता है; (२) असत्य बोलता है; (३) अदत्त लेता है; (४) इन्द्रिय-विषयों का आस्वादन करता है; (५) पूजा-सत्कार चाहता है; (६) यह सपाप है, यों कहता हुआ भी उसका आचरण करता है; और (७) कथनी के अनुरूप करणी नहीं करता।

१-दशवैकालिक १०।५

...अत्तसमे मनिज्ज छप्पि काए।

२-धम्मपद दण्ड वर्ग-१

सब्बे तसंति दंडस्स, सब्बे भायंति मच्चुनो।
अत्तान उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥

३-गीता—६।२६

सर्वभूतस्थमात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः॥

४-ठा० सू० ५५०

सत्तहिं ठाणेहिं छउमत्थं जाणेज्जा, तं०-पाणे अइवाएत्ता भवति मुसंवइत्ता भवति अदिन्नमादित्ता भवति सद्दफरिसरसरूवगंधे आसादेत्ता भवति पूतासक्कारमणुवूहेत्ता भवति इमं सावज्जन्ति पण्णवेत्ता पडिसेवेत्ता भवति णो जधावादी तधाकारी यावि भवति। सत्तहिं ठाणेहिं केवली जाणेज्जा, तं०-णो पाणे अइवाइत्ता भवति जाव जधावादी तधाकारी यावि भवति।

यह एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक तथ्य है, इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। केवल सिद्धान्त और आचरण में गति लाने का प्रयत्न हुआ। फलस्वरूप हिंसा ने अहिंसा का रूप ले लिया। हिंसा उपादेय नहीं है—यह मान्यता पक्ष रहा। जीवन-निर्वाह के लिये हिंसा अनिवार्य है, यह व्यवहार-पक्ष रहा। यह स्पष्ट विसंगति है, इसे मिटाने का और कोई मार्ग नहीं सूझा, तब ये व्याख्याएँ स्थिर होने लगीं कि

१—आवश्यक हिंसा, हिंसा नहीं है।

२—बहुतों के लिये थोड़ों की हिंसा, हिंसा नहीं है।

३—बड़ों के लिये छोटों की हिंसा, हिंसा नहीं है।

आचार्य भिक्षु ने इस ओर जनता का ध्यान खींचा कि यह दोहरी भूल है। एक तो हिंसा करना और दूसरे हिंसा को अहिंसा मानना। उन्होंने आत्मविश्वास के साथ कहा—हिंसा कभी और किसी भी परिस्थिति में अहिंसा नहीं हो सकती। इनमें पूर्व और पश्चिम की सी दूरी है[1]।

उन्होंने तर्ककी भाषामें कहा—आवश्यकता की कोई सीमा नहीं है। आवश्यक हिंसा को अहिंसा माना जाय तो हिंसा कोई रहेगी ही नहीं। आवश्यकता की सृष्टि, दुर्बलता के तत्वों से होती है। वे हिंसा को अहिंसा में बदल सकें इतनी क्षमता उनमें नहीं है, इसलिए आवश्यक हिंसा भी हिंसा है।

महात्मा गाँधी ने जीवन की विसंगति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"श्रद्धा और कर्म में विरोध किसलिए? विरोध तो अवश्य है ही। जीवन एक झंखना है। इसका ध्येय पूर्णता अर्थात् आत्म-साक्षात्कार के लिये मन्थन करने का है। अपनी निर्बलताओं और अपूर्णताओं के कारण आदर्श को नीचे गिराना नहीं चाहिए। मुझ में निर्बलता और अपूर्णता दोनों है, इसका दुःखद भान मुझे है। हालांकि बोरसद के लोगों के सामने मैंने अपने सहोदर चूहे, चींचड़ के विनाश का समर्थन किया तथापि मैंने जीव मात्र के प्रति शाश्वत प्रेम-धर्म का शुद्ध रूप भी बतलाया। इसका पूर्णता से पालन मुझसे इन जन्म न हो सके तथापि इस सम्बन्ध की मेरी श्रद्धा तो अविचल रहेगी[2]।"

वर्त्तमान का नीति शास्त्र कहता है—"ग्रेटेस्ट गुड ऑफ दी ग्रेटेस्ट नम्बर"—अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख या हित। इसमें विरोधी

१-अणुकम्पा ढाल ६ गा० ७१ :

और वसत में भेल हुवें पिण, दया में नहीं हिंसा रो भेलो जी।
ज्यूं पूर्व नें पिछम रो मारग, किण विध खावें मेलो जी॥

२-व्यापक धर्म भावनाः जीवमात्र की एकता पृ० ६, १०

हितों की कल्पना है। बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों के बलिदान को उचित माना गया है। इसी सिद्धान्त ने बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक का झगड़ा खड़ा किया है। नीति-शास्त्र की इस मान्यता पर राजनीति का प्रभाव है। एकतन्त्र की प्रतिक्रिया जनतन्त्र के रूप में हुई। जनतन्त्र का अर्थ है—अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यकों का राज्य और बहुमत के सामने अल्पमत की पराजय। इस भावना का प्रतिबिम्ब नीति-शास्त्र पर पड़ा और वह सर्वभूत-आत्मभूत की बात भूल गया।

मध्यकालीन धर्मशास्त्र के व्याख्याता भी इस भूल से अपने को बचा नहीं सके। उन्होंने भी बहुमत का साथ दिया। इसलिये आचार्य भिक्षु ने क्रान्ति के स्वर में कहा—

"बहुतों के हित के लिये थोड़ों के हित को कुचल देना उतना ही दोषपूर्ण है जितना कि थोड़ों के हित के लिये बहुतों को कुचलना। एक आदमी सौ रोगी मनुष्यों को स्वस्थ करने के लिये 'ममाई' करता है—एक मनुष्य के शरीर को क्षत-विक्षत कर खून निकालता है। एक आदमी सिंह व कसाई को मारकर अनेक जीवों को मृत्यु के मुँह में जाने से बचाता है। इनमें धर्म बतानेवालों की श्रद्धा विशुद्ध नहीं है[1]।"

राज्यतन्त्र में राजा के जीवन का असीम मूल्य था। उसकी या उसके परिवार की इच्छा की वेदी पर मनुष्यों तक की बली हो सकती थी। एक पौराणिक-कथा के अनुसार एक राजकन्या की इच्छा पर राजा ने वैश्य-पुत्र को मारने की आज्ञा दे दी। प्रमुख नागरिक राजसभा में गए। राजा ने उनकी प्रार्थना के उत्तर में कहा—राजकन्या का आग्रह है कि या तो वह जीएगी या वैश्य-पुत्र। दोनों एक साथ नहीं जी सकते। राजा ने कहा—आप कहिए, मैं किसे मारूँ? नागरिक अवाक् हो वापस चले आए। राजकन्या के लिये वैश्य-पुत्र मारा गया।

राज्यसत्ता शक्ति का जाल है। उसमें जो फँसे, उन्होंने इसे क्षम्य मान लिया। पर अहिंसा आत्मा की सहज पवित्रता है। वह एक के लिये दूसरे की बली को कभी भी क्षम्य नहीं मान सकती। जो लोग अहिंसा के क्षेत्र में

१-अणुकम्पा ढाल ७ गा० १०,२७

मरता देखी सो रोगला, ममाइ विण हो ते तो साजा न थाय।
कोई ममाइ कर एक मिनषरी, सो जणा रे हो साता कीधी बचाय॥
कोइ नाहर कसाइ मारनें, मरता राख्या हो घणां जीव अनेक।
जो गिणें दोयांनें सराषा, त्यांरी विगड़ी हो सरधा बात ववेक॥

राज्यतन्त्र की परम्परा को निभा रहे थे, उनके विरुद्ध आचार्य भिक्षु ने विद्रोह किया। उनकी विद्रोही वाणी ने घोषित किया :

"छोटे जीवों को मारकर बड़ों का पोषण करने को अहिंसा कहते हैं, वे छोटे जीवों के दुश्मन हैं[1]।"

उनका दयार्द्र मन कह उठा—"ये छोटे जीव अपने अशुभ कर्म भुगत रहे हैं, लोग इन्हें सता रहे हैं। और उनके द्वारा बड़े जीवों के पोषण में पुण्य बतलानेवाले ये भेषधारी और उठ खड़े हुए हैं[2]।" छोटे और बड़े जीवों में शरीर और ज्ञान की मात्रा का तारतम्य है। आत्मत्व की दृष्टि से सब जीव समान हैं। अहिंसा और हिंसा की नाप छोटा-बड़ा आकार नहीं है। वह राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति के भाव और अभाव से नापी जाती है।

आवश्यक हिंसा, हिंसा नहीं है; बहुतों के लिये थोड़ों की हिंसा, हिंसा नहीं है; बड़ों के लिये छोटों की हिंसा, हिंसा नहीं है—इन धारणाओं का मूल्य रागात्मक प्रवृत्ति है और इनका आचरण भी रागात्मक है। इसलिये यह सारा हिंसा पक्ष है।

जीव जीव का जीवन है—यह प्राणी की विवशता है पर अहिंसा नहीं है।

बहुसंख्यकों के हित के लिये अल्पसंख्यकों का अहित क्षम्य है, यह जनतन्त्र का सिद्धान्त है पर अहिंसा नहीं है।

बड़ों के लिये छोटों का बलिदान क्षम्य है, यह राज्यतन्त्र की मान्यता है पर अहिंसा नहीं है।

इन सिद्धान्तों से आत्मौपम्य या सर्वभूतात्मभूतवाद की रीढ़ टूटी है। विवशता, बहुसंख्यक, और अल्पसंख्यक तथा छोटे और बड़े के प्रश्न हिंसा के क्षेत्र में उठते हैं, अहिंसा का स्वरूप इन सभी प्रश्नों से मुक्त है।

आत्मौपम्य के प्रयोग की भूमिकाएँ विभिन्न हैं। रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति तीव्र होती है, आत्मौपम्य की बुद्धि मन्द हो जाती है। रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति मन्द होती है, आत्मौपम्य की बुद्धि तीव्र हो जाती है। मनुष्य का ज्ञान विशुद्ध होता है तब वह आत्मौपम्य को जानता है। उसकी दृष्टि विशुद्ध होती है तब वह

१-व्रताव्रत ढाल ७ गा० ४ :
रांकां नें मार धींगां नें पोख्यां, एतो वात दीसें घणी गेरी।
तिण माहें दुष्टी धर्म बतावें, ते रांक जीवांरा उठया वेरी॥

२-व्रताव्रत ढाल ७ गा० ५ :
पाछिल भव पाप उपाया तिणसूं, ते हूआ एकेंद्री पुन परवारी।
त्यां रांक जीवां रे उसभ उदेंसुं, लोकां सहित लागू उठया भेषधारी॥

आत्मौपम्य में विश्वास करता है। उसका मन विशुद्ध होता है तब वह आत्मौपम्य का आचरण करता है।

कुछ लोग हिंसा को अनिष्ट जानते हुए भी अहिंसा में विश्वास नहीं कर पाते। यह वह स्थिति है जहाँ ज्ञान है पर दृष्टि की शुद्धि नहीं है। कुछ लोग हिंसा को अनिष्ट जानते हुए और अहिंसा में विश्वास करते हुए भी उसका आचरण नहीं कर पाते। यह वह भूमिका है जहाँ ज्ञान और दृष्टि है पर चारित्रिक क्षमता नहीं है।

इन भूमिका भेदों को ध्यान में रखकर ही आचार्य भिक्षु ने हिंसा और अहिंसा, व्यवहार और परमार्थ का विश्लेषण किया।

: २ : संसार और मोक्ष

संसार व्यवहार से चलता है। व्यवहार में हिंसा की अनिवार्यता है। यदि हिंसा और अहिंसा में अत्यन्त भेद हो तो हिंसा करना कौन चाहेगा? उसके बिना व्यवहार नहीं चलेगा। व्यवहार के बिना संसार मिट जाएगा।

प्रत्येक आदमी मोक्ष चाहता है, सुख चाहता है। उसका साधन अहिंसा है। सब लोग उसीका आचरण करना चाहेंगे। संसार किसी भी समझदार आदमी का साध्य नहीं है। दुःख कोई नहीं चाहता। वह हिंसा से होता है। उसका आचरण कोई नहीं करेगा, सारा व्यवहार गड़बड़ा जाएगा। इस तर्क की कसौटी पर आचार्य भिक्षु के अभिमत को कसा तो लोगों को संसार का भविष्य अंधकारमय दीखा।

आचार्य भिक्षु ने उसे उक्त भेदों के आधार पर सुलझाया। उन्होंने कहा— हिंसा और अहिंसा का सिद्धान्त मोहाणुओं की सक्रियता और निष्क्रियता पर अवलम्बित है। मोहाणु मनुष्य को पदार्थ की ओर आकृष्ट करते हैं। उनकी मात्रा अधिक होती है तब वे आत्मा के सहजभाव को निर्जीव बना देते हैं। जीवन और भोग साध्य बन जाते हैं। उनके लिये हिंसा की जाती है। आपने स्वयं अनुभव किया होगा और अनेक लोगों को यह कहते सुना होगा कि बुराई को बुराई जानते हुए भी उसे छोड़ नहीं पा रहे हैं। यह स्थिति मोहाणुओं की सक्रियता से बनती है। उनकी सक्रियता के लिये कठोर साधना अपेक्षित है। इसलिये व्यवहार की विशृङ्खलता के काल्पनिक भय से अहिंसा की यथार्थता को बदलने की आवश्यकता नहीं है। संसार किसी का भी साध्य नहीं होगा, सब लोग अहिंसा का आचरण करना चाहेंगे—यह तर्क हो सकता है वस्तुस्थिति नहीं। दुःख कोई नहीं चाहता, यह आप और हम सब मानते हैं। अपराधी भी दुःख के लिये अपराध नहीं करता है पर उसका परिणाम

सुख नहीं है। जीवन-मुक्ति की दृष्टि से देखा जाये तो भोग भी अपराध है। भोगी दुःख के लिये भोग नहीं करता होगा पर भोग का परिणाम सुख नहीं है। साध्य की प्राप्ति केवल मान्यता से नहीं किन्तु आचरण की पूर्णता से होती है। भोग का परिणाम संसार है। इसलिये भोग-दशा का साध्य संसार ही होगा।

भोगासक्त लोग यथेष्ठ मात्रा में अहिंसा का आचरण करना चाहते भी नहीं और यदि चाहें तो कर नहीं सकते। आसक्ति और अहिंसा के मार्ग दो हैं।

अहिंसा के फूल सुकुमारतम हैं। ये शक्ति के धागे में पिरोये नहीं जा सकते।

: ३ : बल-प्रयोग

एकेन्द्रिय को मारकर पञ्चेन्द्रिय का पोषण करने में लाभ है, किसी ने कहा। आचार्य भिक्षु बोले—किसी व्यक्ति ने तुम्हारा तौलिया छीनकर दूसरे व्यक्ति को दे दिया, उसमें लाभ है या नहीं? एक व्यक्ति ने गेहूँ के कोठों को लूट लिया, उसमें लाभ है या नहीं?

वह बोला—नहीं।

आचार्य—क्यों?

वह बोला—उनके स्वामी के मन बिना दिया गया, इसलिए।

आचार्य—एकेन्द्रिय ने कब कहा कि हमारे प्राण लूट कर दूसरों का पोषण करना। यह बलात्कार है, एकेन्द्रिय की चोरी है। इसलिए एकेन्द्रिय को मार पञ्चेन्द्रिय का पोषण करने में धर्म नहीं है[1]।

: ४ : हृदय-परिवर्तन

मनुष्य की प्रवृत्ति के निमित्त तीन हैं—शक्ति, प्रभाव और सहजवृत्ति। सत्ता से शक्ति, सम्बन्ध से प्रभाव और हृदय-परिवर्तन से सहजवृत्ति का उदय होता है। शक्ति राज्य संस्था का आधार है। प्रभाव समाज संस्था या भौतिक-जीवन का आधार है। सहजवृत्ति हृदय की पवित्रता का आधार है। शक्ति से प्रेरित हो मनुष्य को कार्य करना पड़ता है। प्रभाव से प्रेरित होकर मनुष्य सोचता है कि यह कार्य मुझे करना चाहिए। सहजवृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्य सोचता है कि यह कार्य करना मेरा धर्म है। सब लोग अहिंसक या मोक्षार्थी हो जाएँ यह कल्पना ठीक है पर सबको अहिंसक या मोक्षार्थी बना देंगे यह शक्ति का सूत्र है। हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी

१-दृष्टान्त : २६४ :

कि शक्ति के धागे में सबको एक साथ बाँधने की क्षमता है। पर उससे व्यक्ति के स्वतन्त्र मनोभाव का विकास नहीं होता। वह व्यक्ति-व्यक्ति की चारित्रिक अयोग्यता का निदर्शन है। आपसी सम्बन्धों से प्रभावित होकर जो अहिंसक बनता है वह अहिंसा की उपासना नहीं करता। वह सम्बन्धों को बनाए रखने की प्रक्रिया है। प्रभाव मनुष्यों को बाँधता है पर वह मानसिक अनुभूति की स्थूल रेखा है, इसलिये उसमें स्थायित्व नहीं होता।

मोहाणुओं व पदार्थों से प्रभावित व्यक्ति जो कार्य करते हैं उनके लिये हम अहिंसा की कल्पना ही नहीं कर सकते। शक्ति के दबाव और बाहरी प्रभाव से रिक्त मानस में जो आत्मौपम्य का भाव जागता है वह हृदय-परिवर्तन है। हृदय वही होता है, उसकी वृत्ति बदलती है, इसलिये उसे हृदय-परिवर्तन कहा जाता है। शक्ति और प्रभाव से दबकर जो हिंसा से बचा जाता है, वह हिंसा का प्रयोग भले न हो किन्तु वह हृदय की पवित्रता नही है, इसलिये उसे हृदय-परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

अहिंसा का आचरण वही कर सकता है जिसका हृदय बदल जाय। अहिंसा का आचरण किया जा सकता है किन्तु कराया नहीं जा सकता। अहिंसक वही हो सकता है जो अपने को बाहरी वातावरण से सर्वथा अप्रभावित रख सके। बाहरी वातावरण से हमारा तात्पर्य शक्ति, मोहाणु और पदार्थ से है। इनमें से किसी एक से भी प्रभावित आत्मा हिंसा से नहीं बच सकती।

आक्रमण के प्रति आक्रमण और शक्ति-प्रयोग के प्रति शक्ति-प्रयोग कर हम हिंसा के प्रयोगात्मक रूप को टालने में सफल हो सकें—यह संभव है। पर वैसा कर हम हृदय को पवित्र कर सकें या करा सकें यह संभव नहीं। आचार्य भिक्षु ने कहा—शक्ति के प्रयोग से जीवन की सुरक्षा की जा सकती है, पर वह अहिंसा नहीं है।

अहिंसा का अंकन जीवन या मरण से नहीं होता, उसकी अभिव्यक्ति हृदय की पवित्रता से होती है।

अनाचार करनेवाले को समझा-बुझाकर अनाचार से छुड़ाना, यही है अहिंसा का मार्ग[१]। अहिंसा और वध सर्वथा एक नहीं है। अहिंसक के द्वारा भी किंचित् अशक्य कोटि का वध हो सकता है किन्तु यदि उसकी प्रवृत्ति संयम-मय हो तो वह हिंसा नहीं होती। वध को बल प्रयोग से भी रोका जा सकता है किन्तु वह अहिंसा नहीं होती। अहिंसा तभी होती है जब हिंसा करनेवाला

१-अणुकम्पा ढाल ५ गा० १५ :

दव देवो गांम जलायवो, इत्यादिक हो सावद्य कार्य अनेक।
ए सर्व छोड़ावें समझायनें, सगलां री हो विध जांणो तुमें एक॥

समझ-बूझकर उसे छोड़ता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—प्रेरक का काम हिंसक को समझाने का है। अहिंसा के क्षेत्र में वह यहीं तक पहुँच सकता है। हिंसा तो तब छूटेगी जब हिंसा करनेवाला उसे छोड़ेगा[1]।

: ५ : साध्य-साधन के वाद

साध्य और साधन एक ही है, यह सुनकर सम्भव है कि आप पहले क्षण असमञ्जस में पड़ जाएँ। तर्क-शास्त्र आपको कार्य-कारण में भेद बतलाता है। वही धारणा आपकी साध्य और साधन के बारे में होगी। दो क्षण के लिये आप तर्क-शास्त्र को भुला दीजिए। अभी हम आध्यात्मिक क्षेत्र में घूम रहे हैं। हृदय-परिवर्तन का अर्थ ही आध्यात्मिकता है।

दिन हो या रात, अकेला हो या परिषद् के बीच, सोया हुआ हो या जागृत, प्रत्येक स्थिति में जो हिंसा से दूर रहता है, वह आध्यात्मिक है और दूर रहने की वृत्ति ही अध्यात्म है।

आध्यात्मिक जगत का साध्य है आत्मा की पवित्रता और उसका साधन भी वही है। आत्मा की अपवित्रता कभी भी आत्मिक पवित्रता का साधन नहीं बन सकती। पहले क्षण का साधन दूसरे क्षण में साध्य बन जाता है और वही उसके अगले चरण का साधन बन जाता है। पहले क्षण का जो साध्य है वह अगले क्षण के लिये साधन है। पवित्रता ही साध्य है और वही साधन।

साध्य और साधन की एकता के विचार को आचार्य भिक्षु ने जो सैद्धान्तिक रूप दिया वह उनसे पहले नहीं मिलता। शुद्ध साध्य के लिये साधन भी शुद्ध होने चाहिएँ, इस विचार को उनकी भाषा में जो अभिव्यक्ति मिली वह उनसे पहले नहीं मिली। साध्य और साधन की सिद्धि का सिद्धान्त अब राजनीतिक चर्चा में भी उतर आया है। एम्मा गोल्डमैन ने, जिसके विचार बड़े ही क्रान्तिकारी कहे जाते हैं, हाल में लन्दन में एक भाषण में कहा था—"सबसे हानिकारक विचार यह है कि यदि साध्य ठीक है तो उसके लिये हर तरह के साधन ठीक समझे जाएँगे। अन्त में साधन ही साध्य बन जाते हैं और असली साध्य पर दृष्टि हो नहीं जाती।" स्वयं ट्राटस्की ने लिखा है—"जिसका लक्ष्य साध्य पर रहता है वह साधनों की उपेक्षा नहीं कर सकता। किन्तु शायद उसने यह नहीं समझा कि साधन का कितना बड़ा प्रभाव साध्य पर

१-अणुकम्पा ढाल ८ गा० ५१ :

त्यांसूं सरीरादिक रो संभोग टालें, ग्यांनादिक गुण रो राखें भेलापो।
उपदेस देइ निरदावे रहिणो, पंलो समझे नें टाले तो टलसी पापो॥

पड़ता है। बुरे साधनों से तो बुरा साध्य ही प्राप्त होगा, इसलिये चाहे जैसे साधन प्रयुक्त करने का सिद्धान्त कभी उचित नहीं हो सकता[1]।

आचार्य भिक्षु ने दो शताब्दी पूर्व कहा था—शुद्ध साध्य का साधन अशुद्ध नहीं हो सकता और शुद्ध साधन का साध्य अशुद्ध नहीं हो सकता। मोक्ष साध्य है और उसका साधन है संयम। वह संयम के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति लड्डुओं के लिये तपस्या करते हैं वे कभी भी धर्मी नहीं हैं और इस उद्देश्य से तपस्या करनेवालों को जो लड्डू खिलाते हैं वे भी धर्मी नहीं हैं[2]।

जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है—"गाँधी जी ने हमें सबसे बड़ी शिक्षा यह दी या फिर से याद कराई कि हमारे साधन पवित्र होने चाहिए, क्योंकि जैसे हमारे साधन होंगे, वैसे ही हमारे साध्य और ध्येय भी होंगे।

एक योग्य साध्य तक पहुँचने के साधन भी योग्य होने चाहिए। यह बात एक श्रेष्ठ नैतिक सिद्धान्त ही नहीं बल्कि एक स्वस्थ व्यावहारिक राजनीति मालूम पड़ती थी, क्योंकि जो साधन अच्छे नहीं होते, वे अक्सर साध्य का ही अन्त कर देते हैं और उनसे नई समस्याएँ तथा कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं[3]"।

"जो साधन अच्छे नहीं होते वे अक्सर साध्य का ही अन्त कर देते हैं।" इसका उदाहरण आचार्य भिक्षु ने प्रस्तुत किया है। देव, गुरु, और धर्म की उपासना धार्मिक का साध्य है। उपासना का साधन है अहिंसा। किन्तु जो व्यक्ति हिंसा के द्वारा उनकी उपासना करता है, वह उपासना के मार्ग से भटक जाता है। जो हिंसा के द्वारा धर्म करना चाहता है वह मिथ्या दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि वह है जो धर्म के लिये हिंसा नहीं करता[4]।

१-अहिंसा की शक्ति (रिचर्ड० बी० ग्रेग) पृ०-९०

२-बारह व्रत की चौपइ ढा० १२ गा० २१-२२

ते तो अरथी छे एकन्त पेट रा, ते मजूरिया तणी छे पात जी।
त्यांरा जीवरो कारज सरे नहीं, उलटी घाली गला मांहि रातजी॥

३-राष्ट्रपिता (पं० जवाहरलाल नेहरू) पृ० ३६

४-व्रताव्रत ढाल १ गा० ३५,३७ :

देव गुर धर्म नें कारण, मूढ हणें छकायो रे।
उल्टा परीया जिण मार्ग थी, कुगुरां दीया बेंहकायो रे॥
वीर कह्यो आचारंग मांहे, जिण ओलखीयो तत सारो रे।
समदृष्टी धर्म नें कारण, न करें पाप लिगारो रे॥

लोहू से लिपटा हुआ पीताम्बर लोहू से साफ नहीं होता। इसी प्रकार हिंसा से हिंसा का शोधन नहीं होता[1]।

वर्तमान राजनीति में दो प्रकार की विचारधाराएँ हैं। साम्यवादी और इतर-साम्यवादी। जनता का जीवनस्तर ऊँचा करना—दोनों का लक्ष्य है। पर पद्धतियाँ दोनों की भिन्न हैं।

साम्यवादी विचारधारा यह है—लक्ष्य की पूर्ति के लिये साधन की शुद्धि का विचार आवश्यक नहीं है। लक्ष्य यदि अच्छा है तो उसकी पूर्ति के लिये बुरे साधनों का प्रयोग भी आवश्यक हो तो वह करना चाहिए। एक बार थोड़ा अनिष्ट होता है और आगे इष्ट अधिक होता है[2]। गांधीवादी विचार यह है कि जितना महत्व लक्ष्य का है उतना ही साधन का। लक्ष्य की पूर्ति येन केन प्रकारेण नहीं किन्तु उचित साधनों के द्वारा ही करनी चाहिए।

आचार्य भिक्षु के समय में भी साधन शुद्धि के विचार को महत्व न देने वाली मान्यता थी उसके अनुयायी कहते थे—प्रयोजनवश धर्म के लिये भी हिंसा का अवलम्बन लिया जा सकता है। एक बार थोड़ी हिंसा होती है, किन्तु आगे उससे बहुत धर्म है।

आचार्य भिक्षुने इसे मान्यता नहीं दी। उन्होंने कहा—बाद में धर्म या पाप होगा, इससे वर्तमान अच्छा या बुरा नहीं बनता। कार्य की कसौटी वर्तमान ही है। कुछ जैन लोग दूसरों को लड्डू खिलाकर उनसे तपस्या कराते थे। उनका विश्वास था कि वे उपवास करेंगे उसमें हमें धर्म होगा। आचार्य भिक्षु इस अभिमत के आलोचक थे। उनका सिद्धान्त था कि पीछे जो करेगा उसका फल उसे होगा किन्तु लड्डू खिलाने में धर्म नहीं है[3]।

१-व्रताव्रत ढाल १ गा० ३६ :

लोही खरड्यो जो पितंबर, लोही सूं केम धोवायो रे।
तिम हिंसा में धर्म कीयां थी, जीव उजलो किम थायो रे॥

२-व्रताव्रत ढाल १ गा० ४०

कहे मे पाप करां थोडो सो, पछे होसी धर्म अपारो रे।
सावद्य कांम करां इण हेतें, तिणथी खेवो पारो रे॥

३-बारह व्रत ढाल ७ गा० २६,३० :

कोई कहे लाडू खवायां धर्म, वो तप करें तिणसे म्हांरा कटसी कर्म।
तिणसे म्हें ओरांने लाडू खवावां, लाडूवां साटें म्हें उपवास करावां॥
पाछें तो वो करसी सो उणने होय, पिण लाडू खवायां धर्म नहीं कोय।
लाडू खवायां तो एकान्ति पाप, श्रीजिन मुखसे भाख्यो छै आप॥

आगे धर्म करेगा इसलिये वर्तमान में उसके लिये साध्य के प्रतिकूल साधन का प्रयोग किया जाय, यह युक्तिसंगत नहीं। दया उपादेय तत्त्व है। अहिंसा का पालन वही कर सकता है, जिसका मन दया से भीगा हुआ हो। पर साधन की विकृति से दया भी विकृत बन जाती है। एक आदमी मूली खा रहा है। दूसरे के मनमें मूली के जीवों के प्रति दया उत्पन्न हुई। उसने बल-प्रयोग किया और जो मूली खा रहा था उसके हाथ से छीन ली। दया का यह साधन शुद्ध नहीं है। हिंसक वही होता है जो हिंसा करे, जिसके मनमें हिंसा का भाव हो ; और अहिंसक भी वही होता है जो अहिंसा का पालन करे; जिसके मनमें अहिंसा का भाव हो। बलात् किसी को हिंसक या अहिंसक नहीं बनाया जा सकता। भोग धर्म नहीं है, यह जानकर यदि कोई बलात् किसी के भोगों का विच्छेद करता है, तो वह अधर्म करता है[1]।

जिसके मन में दया का भाव उठा, उसके लिये दया का साधन है उपदेश। और जिसके लिये दया का भाव उत्पन्न करना है उसके लिये दया का साधन है हृदय-परिवर्तन। आत्मवादी का साध्य है मोक्ष—आत्मा का पूर्ण विकास। उसके साधन हैं सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र[2]। अज्ञानी को ज्ञानी, मिथ्या दृष्टि को सम्यक्दृष्टि और असंयमी को संयमी बनाना साध्य के अनुकूल है[3]।

१-व्रताव्रत ढाल १ गा० ३३, ३४ :

मूला गाजर नें काचो पांणी, कोइ जोरी दावें लें खोसी रे।
जे कोइ वस्त छोड़ावें बिना मन, इण विध धर्म न होसी रे॥
भोगीना कोइ भोगज रूंधें, वलें पाडें अन्तरायो रे।
माहा मोहणी कर्मज बांधें, दसाश्रुतखंध माहि बतायो रे॥

२-(क)-तत्वार्थ सूत्र १।१

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः

(ख)-अणुकम्पा ढाल ४ गा० १७ :

ग्यांन दर्शन चारित्र तप विना, और मुक्ति रो नहीं उपाय हो।
छोडा मेला उपगार संसार ना, तिणथी सदगति किण विध जाय हो॥

३-अणुकम्पा ढाल ४ गा० १६-२० :

अग्यांनी रो ग्यांनी कीयां थकां, हुवो निश्चें पेलारो उधार हो।
कीयों मिथ्याती रो समकती, तिण उतारीयों भवपार हो॥
असंजती नें कीयों संजती, ते तो मोक्ष तणा दलाल हो।
तपसी कर पार पोहचावीयों, तिण मेटया सर्व हवाल हो॥

यह साध्य और साधन की संगति है। इनकी विसंगति तब होती है जब या तो साध्य अनात्मिक होता है या साधन। यदि कोई व्यक्ति जीवों को मारकर, झूठ बोलकर, चोरी कर, मैथुन सेवन कर और धन देकर इसी प्रकार अठारह पापों का सेवन कर जीवों की रक्षा करता है, तो वह जीव-रक्षा का सही तरीका नहीं है। यदि हिंसा के द्वारा जीव-रक्षा करने में थोड़ा पाप और बहुत धर्म हो, थोड़े या छोटे जीव मारे जायँ वह थोड़ा पाप और बहुत या बड़े जीवों की रक्षा हुई वह बहुत धर्म हो तो फिर असत्य आदि सभी अकृत्य कार्यों के द्वारा ऐसा होगा। हिंसा के द्वारा जीव-रक्षा करने में पाप और धर्म दोनों माने जायँ तथा शेष अकृत्य कार्यों के द्वारा जीव-रक्षा करने में कोरा पाप माना जाय यह न्याय नहीं है[1]।

एक जीव को मार दूसरे जीव की रक्षा करना, यह सूत्र में कहीं नहीं कहा गया है। यह भगवान् की वाणी नहीं है[2]।

अशुद्ध साधन की आलोचना करते हुए म० गांधी ने लिखा है—"यह तो कहीं नहीं लिखा है कि अहिंसावादी किसी को मार डाले। उसका रास्ता तो बिल्कुल सीधा है। एक को बचाने के लिये वह दूसरे की हत्या नहीं कर सकता[3]।" जैन-धर्म की दया का रहस्य है—दुराचारी को समझा-बुझाकर

१-अणुकम्पा ढाल ७ गा० २१-२४ :

जीव मारे झूठ बोलनें, चोरी करनें हो पर जीव बचाय।
वले करे अकार्य एहवा, मरता राख्या हो मैथुन सेवाय॥
धन दे राखें पर प्रांण नें, क्रोधादिक हो अठारें सेवाय।
ए सावद्य कांम पोतें करी, पर जीवांनें हो मरता राखें ताय॥
जों हिंसा करे जीव राखीयां, तिण में होसी हो धर्म नें पाप दोय।
तों इम अठारेंइ जांणजों, ए चरचा में हो विरलो समझें कोय॥
जों एकण में मिश्र कहें, सतरां में हो भाषा बोलें और।
इंधी सरधा रो न्याय मिलें नही, जब उलटी हो कर उठे झोड़॥

२-अणुकम्पा ढाल ७ गा० २५ :

जीव मारें जीव राखणा, सुत्तर में हो नही भगवंत वेंण।
इंधो पंथ कुगुरे चलावीयो, सुध न सूझें हो फूटा अन्तर नेंण॥

३-हिन्द स्वराज्य पृ० ७५-७६

सदाचारी किया जाय। यदि कोई चोर, हिंसक, व्यभिचारी है तो उसे उपदेश देकर अधर्मी से धर्मी बनाया जाय।[1]

महात्मा गांधी के शब्दों में उसका (अहिंसक का) कर्तव्य तो सिर्फ विनम्रता के साथ समझाने-बुझाने में है[2]। यदि एक अशुद्ध साधन का प्रयोग किया जाय तो फिर नियन्त्रण की शृंखला ढीली हो जाती है।

आचार्य भिक्षु ने इस तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"दो वेश्याएँ कसाईखाने में गईं, जीवों का संहार होते देख उनका मन अनुकम्पा से भर गया। दोनों ने दो हजार जीवों को बचाने का संकल्प किया। एक ने अपने आभूषण दिये और जीवों की रक्षा की, और दूसरी ने अनाचार का सेवन किया और जीवों की रक्षा की। आभूषण देकर जीवों की रक्षा करना, यह अहिंसा का शुद्ध साधन नहीं है। यदि इसे प्रयोजनीय माना जाय तो अनाचार सेवन कर जीवों की रक्षा करने को अप्रयोजनीय कहने का कोई तात्त्विक आधार नहीं रहता[3]।

: ६ : धन से धर्म नहीं

धन से धर्म नहीं होता, यह वाणी साधन-शुद्धि की भूमिका पर ही आलोकित हुई। भृगु ने अपने पुत्रों से कहा था—जिनके लिये लोग तप

१-अणुकम्पा ढाल ५ गा० ५ :

चोर हिंसक नें कुसीलीया, यांरें तांई रे दीधो साधां उपदेस।
त्यांनें सावद्य रा निरवद कीया, एहवो छे हो जिण दया धर्म रेस॥

२-हिन्द स्वराज्य पृ० ७६

३ अणुकम्पा ढाल ७ गा० ५१-५४ :

दोय वेस्या कसाइ वाडें गईं, करता देख्या हो जीवांरा संघार।
दोनूं जण्यां मतो करी, मरता राख्या हो जीव एक हजार॥
एकण गेंहणो देइ आपणों, तिण छुडाया हो जीव एक हजार।
दूजी छोडाया इण विधें, एकां दोयां हो चोथो आश्रव सेवार॥
एकणनें पापंडी मिश्र कहें, तो दूजी नें हो पाप किण विध होय।
जीव बरोबर बचावीया, फेर पडीयों हो ते तों पापमें जोय॥
एकण सेवायो आश्रव पांचमों, तो उण दूजो हो चोथो आश्रव सेवाय।
फेर पडयों तों इण पाप में, धर्म होसी हो ते तो सरीषो थांय॥

करते हैं वे धन, स्त्रियां, स्वजन और कामभोग तुम्हारे अधीन हैं, फिर किस-लिए तुम तप करना चाहते हो[1]।

भृगु पुत्रों ने कहा—पिता ! धर्माचरण में धन, स्त्री, स्वजन और काम-भोगों का क्या प्रयोजन है ? धर्म की आराधना में इनका कोई अर्थ नहीं है। हम श्रमण बनेंगे और अप्रतिबद्ध विहारी होकर धर्म की आराधना करेंगे[2]।

आचार्य भिक्षु ने इसी को आधार मानकर कहा—देव, गुरु और धर्म ये तीनों अनमोल हैं। इन्हें धन से खरीदा नहीं जा सकता। जो धन के द्वारा मोक्षधर्म की आराधना बतलाते हैं, वे लोगों को फन्दे में डालते हैं[3]। उस समय ऐसी परम्परा हो चली थी कि जैन लोग कसाईखाने में जाते और कसाइयों को धन देकर बकरों को 'अमरिया' करवाते—छुड़वाते। आचार्य भिक्षु ने इस परम्परा की इसलिये आलोचना की कि यह दया का सही तरीका नहीं है। उन्होंने कहा—कसाई को समझा-बुझाकर हिंसा से विरत किया जाए, दया का सही साधन यही है।

चिन्तन की दो धाराएँ हैं—लौकिक और आध्यात्मिक। लौकिक धारा का जो साध्य है वह आध्यात्मिक धारा का नहीं है और साधन भी दोनों के भिन्न हैं। पहली का साध्य है जीवन का अभ्युदय, और दूसरी का साध्य है आत्मा की मुक्ति। अभ्युदय पदार्थों की वृद्धि से होता है और मुक्ति उनके त्याग से होती है। अभ्युदय का साधन है परिग्रह। परिग्रह के लिये हिंसा

१-उत्तराध्ययन-१४।१६

धणं पभूयं सह इत्थियाहिं सयणा तहा कामगुणा पगामा।

तवं कए तप्पइ जस्स लोगो तं सव्वंसाहीणमिहेव तुब्भं॥

२-उत्तराध्ययन-१४।१७

धणेण किं धम्मधुराहिगारे· सयणेण वा कामगुणेहि चेव।

समणा भविस्सामु गुणोहधारी, बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं॥

३-अणुकम्पा ढाल ७ गा० ६३-६४ :

त्रिविधे त्रिविधे छकाय हणवी नहीं, एहवी छें हो भगवन्त री वाय।

मोल लीयां धर्म कहें मोखरो, ए फंद मांड्यो हो कुगुरां कुबद चलाय॥

देवगुरु धर्म रतन तीनूं, मुगत में हो जिण भाख्या अमोल।

मोल लीयां नहीं नीपजें, साची सरधो हो आंख हियारी खोल॥

करनी होती है। मुक्ति का साधन है त्याग। ममत्व का त्याग, पदार्थ का त्याग और अन्त में शरीर का त्याग। त्याग और अहिंसा में उतना ही सम्बन्ध है, जितना योग और हिंसा में है। यदि हम दोनों धाराओं के साध्यों और साधनों को अलग-अलग समझते हैं, तो हम बहुत सारी उलझनों से बच जाते हैं और उन्हें मिश्रित दृष्टि से देखते हैं तो हम उलझ जाते हैं और धर्म विकृत हो जाता है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—धर्म के साधन दो ही हैं—संवर और निर्जरा या त्याग और तपस्या। यदि धन के द्वारा धर्म होता तो महावीर की धर्म-देशना विफल नहीं होती। भगवान् को वैशाख शुक्ला १० को केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ। सभा में केवल देवताओं की उपस्थिति थी, मनुष्य कोई नहीं था। भगवान् ने धर्म देशना दी। देवताओं ने धर्म अंगीकार नहीं किया। कोई साधु या श्रावक नहीं बना, इसलिए माना जाता है कि भगवान् की पहली देशना विफल हुई[१]। यदि धन से धर्म होता तो देवता भी धर्म कर लेते। भगवान की वाणी को विफल नहीं होने देते। देवताओं से व्रतों का आचरण होता नहीं और धन से धर्म नहीं होता, इसलिए भगवान् की वाणी विफल हुई[२]।

भगवान् की वाणी तब सफल हुई जब मनुष्यों ने व्रत ग्रहण किया, साधु और श्रावक बने।

धन उपकार का साधन है पर आध्यात्मिक उपकार का साधन बनने की क्षमता उसमें नहीं है। कोई समर्थ व्यक्ति किसी दरिद्र को धन देकर सुखी बना देता है, यह सांसारिक उपकार है। सांसारिक उपकार से संसार की परम्परा

१-अणुकम्पा ढाल १२ दू० ५ :

देवतां आगें वांणी वागरी, थित साचववा कांम।
कोइ साध श्रावक हुवो नहीं, तिणसूं वांणी निरफल गई आंम॥

२-अणुकम्पा ढाल १२ दू ६, ७ :

जो धन थकी धर्म नीपजें, तो देवता पिण धर्म करंत।
वीर वांणी सफली करे, मन मांहें पिण हरष धरंत॥
वरत पचखाण न हुवें देवतां थकी, धन सूं पिण धर्म न थाय।
तिणसूं वीर वांणी निरफल गई, तिणरो न्याय सुणो चित्त ल्याय॥

चलती है और आध्यात्मिक उपकार से संसार का अन्त होता है अर्थात् मुक्ति होती है। साध्य वही सधता है जिसे अनुकूल साधन मिले[1]।

कोई लाखों रुपये देकर मरते हुए जीवों को छुड़ाता है, यह संसार का उपकार है। यह आपका सिखाया हुआ धर्म नहीं है। इससे आत्ममुक्ति नहीं होती[2]।

आचार्य भिक्षु के चिन्तन का निचोड़ यह है कि परिग्रह, बल-प्रयोग और असंयम का अनुमोदन—ये अहिंसात्मक तत्त्व नहीं हैं इसलिये मोक्ष के साधन भी नहीं हैं।

अपरिग्रह, हृदय-परिवर्तन और संयम का अनुमोदन—ये अहिंसात्मक तत्त्व हैं, इसलिए ये मोक्ष के साधन हैं।

आचार्य भिक्षु ने अहिंसा या दया के बारे में जो चिन्तन दिया, वह बहुत ही विशाल है। उसके कई पहलू हैं। पर उसका मुख्य पहलू साध्य-साधन की चर्चा है। आचार्य भिक्षु के समूचे चिन्तन को हम एक शब्द में बांधना चाहें तो उसे "साध्य-साधनवाद" कह सकते हैं।



१-अनुकम्पा ढाल ११ गा० ३-५

संसार तणों उपगार करें छें, तिणरें निश्चेंइ संसार वधतो जांणों।
मोक्ष तणों उपगार करें छें, तिणरे निश्चेंइ नेड़ी दीसे निरवाणों॥
कोइ दलद्री जीवनें धनवंत कर दें, नव जातरो परिग्रहो देइ भरपूर।
वले विविध प्रकारे साता उपजावें, उणरो जावक दलद्र कर दें दूर॥
छकाय रा शस्त्र जीव अविरती, त्यांरी साता पूछीनें साता उपजावें।
त्यांरी करें वीयावच विविध प्रकारें, तिणनें तीर्थंकरदेव तों नहीं सरावें॥

२-व्रताव्रत ढाल १२ गा० ५

कोइ जीव छुडावें लाखां दाम दे, ते तो आपरो सीखायों नहीं धर्म हो।
ओ तो उपगार संसार नों, तिणसूं कटता न जाण्यां आप कर्म हो॥

अध्याय ४

मोक्ष-धर्म का विशुद्ध रूप

: १ : चिन्तन के निष्कर्ष

जितना प्रयत्न पढ़ने का होता है उतना उसके आशय को समझने का नहीं होता। जितना प्रयत्न लिखने का होता है उतना तथ्यों के यथार्थ संकलन का नहीं होता। अपने प्रति अन्याय न हो, इसका जितना प्रयत्न होता है, उतना दूसरों के प्रति न्याय करने का नहीं होता। गहरी डुबकी लगानेवाला गोताखोर जो पा सकता है, वह समुद्र की झाँकी लगानेवाला नहीं पा सकता।

आचार्य भिक्षु के विचारों की गहराई विहंगावलोकन से नहीं मापी जा सकती। उन्होंने जो व्याख्याएँ दीं वे व्यावहारिक जगत को कैसी ही क्यों न लगी, पर उनमें वास्तविक सच्चाई है। दृष्टान्त और निगमन—तत्त्व को सरल ढंग से समझाने के लिये होते हैं। इनका प्रयोग मन्द बुद्धिवालों के लिये होता है। इनके द्वारा उलझनें भी बढ़ती हैं। सिद्धान्त की रोचकता और भयानकता जैसी इनके द्वारा होती है, वैसी उसके स्वरूप में नहीं होती।

पक्ष और विपक्ष दोनों कोटि के दृष्टान्तों को छोड़कर सिद्धान्त की आत्मा का स्पर्श किया जाय, तो आचार्य भिक्षु की सिद्धान्त वाणी के मौलिक निष्कर्ष ये हैं :

(१) धर्म और अधर्म का मिश्रण नहीं होता।

(२) अशुद्ध साधन के द्वारा साध्य की प्राप्ति नहीं होती।

(३) बड़ों के लिये छोटे जीवों का घात करना पुण्य नहीं है।

(४) गृहस्थ और साधु का मोक्ष धर्म एक है।

(५) अहिंसा और दया सर्वथा एक हैं।

(६) हिंसा से धर्म नहीं होता।

(७) लौकिक और आध्यात्मिक धर्म एक नहीं है।

(८) आवश्यक हिंसा अहिंसा नहीं है।

: २ : मिश्र धर्म

कई दार्शनिकों की मान्यता है कि वनस्पति आदि एकेन्द्रियवाले जीवों के घात में जो पाप है, उससे कई गुणा अधिक पुण्य मनुष्य आदि बड़े प्राणियों के पोषण में है। एकेन्द्रिय की अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय जीव बहुत भाग्यशाली हैं। अतः बड़े जीवों के सुख के लिये छोटों का घात करने में दोष नहीं है[1]।

किन्तु हिंसा की करणी में दया नहीं हो सकती और दया की करणी में हिंसा नहीं हो सकती। जिस प्रकार धूप और छाँह भिन्न हैं उसी प्रकार दया और हिंसा भिन्न हैं[2]।

दूसरी वस्तुओं में मिलावट हो सकती है, परन्तु दया में हिंसा की मिलावट नहीं हो सकती। पूर्व और पश्चिम के मार्ग कैसे मिल सकते हैं[3]?

विश्व की व्यवस्था बहुत विचित्र है। इसमें मिलने और बिछुड़ने की व्यवस्था भी है। सब तत्त्व नहीं मिलते-बिछुड़ते हैं। केवल पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जो मिलता है, बिछुड़ता है।

दूसरे महायुद्ध के बाद मिलों की मात्रा बढ़ी है। यातायात की सुविधाएँ बढ़ी हैं। पर्यटन बढ़ा है। एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों से अधिक मिलते-जुलते हैं। यह मिलन ही नहीं बढ़ा है, किन्तु वैसा मिलन भी बढ़ा है जो नैतिकता और स्वास्थ्य दोनों के लिये हानिकर है। खाद्य में मिलावट होती है, दूध में, घी में, औषधि में, और भी न जाने किन-किन पदार्थों में क्या-क्या मिलाया जाता है।

१-अणुकम्पा ढाल ६ गा० १९-२० :

केई कहै म्हे हणां एकेंद्री, पंचिंद्री जीवां रे ताईं जी।
एकेंद्री मार पंचिंद्री पोष्यां, धर्म घणों तिण मांहि जी॥
एकेंद्री थी पंचिंद्रीना, मोटा घणा पुन भारी जी।
एकेंद्री मार पंचिंद्री पोष्यां, म्हानें पाप न लागें लिगारी जी॥

२-अणुकम्पा ढाल गा० ७० :

हिंसा री करणी में दया नहीं छें, दयारी करणी में हिंसा नांही जी।
दया नें हिंसा री करणी छें न्यारी, ज्यूं तावड़ो नें छांही जी॥

३-अणुकम्पा ढाल ६ गा० ७१

और वसत में भेल हुवें पिण, दया में नहीं हिंसा रो भेलो जी।
ज्यूं पूर्व ने पिछम रो मारग, किण विध खायें मेलो जी॥

आचार्य भिक्षु के जमाने में मिलावट का यह प्रकार नहीं था। खाद्य शुद्ध मिलता था। घी भी शुद्ध मिलता था। औषधि लेनेवाले लोग कम थे। दूध में पानी मिलाने की प्रथा कुछ पुरानी है पर आज जैसी व्यापक शायद नहीं थी। ऐसा क्यों होता है ? यह प्रश्न है और इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि धर्मप्रधान देशमें ऐसा क्यों होता है ? यहाँ इसकी लम्बी चर्चा में नहीं जाना है। संक्षेप में इतना ही बस होगा कि जब स्वार्थ धर्म पर हावी हो जाता है तब ऐसा होता है, जब धर्म रूढ़ि बन जाता है तब ऐसा होता है, और जब धर्म पूजा जाता है तब ऐसा होता है।

आचार्य भिक्षु के सामने धर्म और अधर्म की मिलावट का प्रश्न था। यह प्रश्न कोई नया नहीं था। याज्ञिक लोग यज्ञ में धर्म और पाप दोनों मानते थे। उनका अभिमत यह रहा कि दक्षिणा देने में पुण्य होता है। और पशु वध में पाप[१]। यज्ञ में पाप थोड़ा होता है और पुण्य अधिक। कई जैन भी मानने लगे कि दया की भावना से जीवों को मारने में पाप और धर्म दोनों होते हैं। बड़े जीव पर दया होती है यह धर्म और छोटे जीव की घात होती है वह पाप है। धर्म अधिक होता है और पाप थोड़ा, यह मिश्र दया है[२]।

असंयति को दान देने में धर्म-अधर्म दोनों होते हैं। यह मिश्रदान का सिद्धांत है[३]। खाद्य-पेय में मिलावट का विरोध अणुव्रत के माध्यम से आचार्य श्री तुलसी कर रहे हैं। धर्म और अधर्म की मिलावट का विरोध तेरापन्थ के माध्यम से आचार्य भिक्षु ने किया। उन्होंने कहा—प्रवृति के स्रोत दो हैं—रागद्वेषात्मक भाव—और वैराग्य भाव। पहले स्रोत से प्रवाहित प्रवृत्ति असम्यक् या अधर्म और दूसरे स्रोत से प्रवाहित प्रवृत्ति सम्यक् या धर्म कहलाती है[४]। अधर्म और धर्म की करनी अलग-अलग है। अधर्म

१-सांख्य तत्त्व कौमुदी पृ० २८,३१

२-निह्नवरास ढाल ३ दू० २

कहें दया आंण नें जीव मारीयां, हुवें छें धर्म नें पाप।
ए करम उदे पंथ काढ़ीयो, भगवंत वचन उथाप॥

३-निह्नवरास गा० १४५ :

एक करणी करें तेह में, नीपजों कहें छें धर्म नें पाप कें।
एहवी करें छें परूपणा, मिश्र दांन री कीधी छें थाप कें॥

४-व्रताव्रत ढा० १२ दू २ :

दोय करणी संसार में, सावद्य निरवद्य जाण।
निरवद करणी में जिण आगना, तिण सूं पामें पद निरवाण॥

करने से धर्म नहीं होता और धर्म करने से अधर्म नहीं होता[1]। एक करनी में दोनों नहीं हो सकते[2]। धर्म और अधर्म ये दो ही मार्ग हैं। तीसरा कोई मार्ग नहीं है[3]।

दो ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते। एक व्यक्ति नदी के जल में खड़ा है। सिर पर धूप है। पैरों को ठंडक लग रही है और सिर को गर्मी की धूप और जल का संयोग सतत है। पर सर्दी और गर्मी की अनुभूति सतत नहीं होती। जिस समय गर्मी की अनुभूति होती है, उस समय सर्दी की नहीं होती और जिस समय सर्दी की होती है, उस समय गर्मी की नहीं होती।

योग्यता की दृष्टि से मनुष्य पाँच इन्द्रियवाला होता है। एक काल में वह एक ही इन्द्रिय से जानता है। जब एक आदमी सूखा लड्डू खाता है, तब उसे शब्द भी सुनायी देता है, उसे देखता भी है, उसकी गंध भी आती है, रस भी चखता है। लगता है पाँचों की जानकारी या अनुभूति एक साथ हो रही है। परन्तु ऐसा होता नहीं। इन सबका काल भिन्न होता है। दो ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते। दो क्रियायें एक साथ हो सकती हैं, किन्तु अविरोधी हों तो। दो विरोधी क्रियाएँ एक साथ नहीं हो सकतीं। दो प्रकार के विचार एक साथ नहीं हो सकते।

सम्यक् और असम्यक् दोनों क्रियाएँ एक साथ नहीं हो सकतीं। अहिंसा और हिंसा, धर्म और अधर्म का आचरण एक साथ नहीं किया जा सकता। सांसारिक उपकार सांसारिक व्यवस्था का मार्ग है। आत्मिक उपकार मोक्ष की साधना का मार्ग है। मिथ्या दृष्टि इन दोनों को एक मानता है, सम्यग्दृष्टि इनको अलग अलग मानता है[4]।

१-व्रताव्रत ढा० ११ गा० ३२ :
पाप अठारैं सेव्यां एकंत पाप, ते सेव्यां नही धर्म होयो रे।
पाप धर्म री करणी छैं न्यारी, पिण मिश्र करणी नहीं कोयो रे॥

२-निह्नवरास ढा० ३ दू० ३ :
पाप कीयां धर्म न नीपजें, धर्म थी पाप न होय।
एक करणी में दोय न नीपजें, ए संका म आंणो कोय॥

३-श्रद्धा आचार की चौपई ढा० १ गा० १०५ :
धर्म अधर्म मारग दोय छैं रे, पिण तीजो पंथ न कोय रे।
तीजो मिश्र मिथ्याती झूठो कहें रे, आप डूबे ओरां ने डबोय रे॥

४-अनुकम्पा ढा० ११ गा० ५२ :
संसार नें मोख तणा उपगार, समदिष्टी हुवें ते न्यारा न्यारा जांणें।
पिण मिथ्याती नें खबर पड़ें नहीं सूधी, तिण सूँ मोह कर्म वसउंधी तांणें॥

: ३ : धर्म की अविभक्तता

अमृत सबके लिये समान है। झूठी खींचतान मत करो[1]।

मुक्ति का मार्ग सब के लिये एक है। मुमुक्षुभाव गृहस्थ में भी रहता है और मुनि में भी। मुनि गृहवास को छोड़ सर्वारम्भ से विरत रहता है, इसलिये वह मोक्ष-मार्ग की आराधना का पूर्ण अधिकारी होता है। एक गृहस्थ गृहवास में रहकर सर्वारम्भ से विरत नहीं हो पाता, इसलिये वह मोक्ष-मार्ग की आराधना के पथ का एक सीमा तक अधिकारी होता है। किन्तु किन्तु मोक्ष-मार्ग की आराधना का पथ दोनों के लिये एक है[2]। अन्तर है केवल मात्रा का। साधु और श्रावक दोनों रत्नों की मालाएँ हैं—एक बड़ी और दूसरी छोटी[3]। साधु और श्रावक दोनों लड्डू हैं एक पूरा और दूसरा अधूरा। साधु केवल व्रती होता है और श्रावक व्रताव्रती। व्रत की अपेक्षा से साधु केवल रत्नों की माला है। श्रावक व्रत की अपेक्षा से रत्नों की माला है, और अव्रतों की अपेक्षा वह कुछ और भी है। साधु के लिये अहिंसा महाव्रत है और श्रावक के लिये अहिंसा अणुव्रत है। अणुव्रत महाव्रत का ही एक लघु रूप है, उससे अतिरिक्त नहीं है। मोक्ष की आराधना के लिये जो साधु करता है या कर सकता है, वही कार्य एक श्रावक के लिये करणीय है। जो कार्य साधु के लिये करणीय नहीं है, वह मोक्ष मार्ग की आराधना के लिये श्रावक के लिये भी करणीय नहीं है। श्रावक अव्रती भी होता है, इसलिये समाज-व्यवस्था की दृष्टि से उसके लिये वैसा भी करणीय होता है, जो एक साधु के लिये करणीय नहीं होता।

१-अनुकम्पा ढ़ा० २ दू० ३ :

साध श्रावक दोनूं तणी, एक अणुकंपा जांण।
इमरत सहू नें सारिषों, कूड़ी मत करों ताण॥

२-व्रताव्रत ढा० १ गा-२८

साध श्रावक नो एकज मारग, दोय धर्म बताया रे।
ते पिण दोनूँ आज्ञा माहे, मिश्र अणहूँतो ल्याया रे॥

३-व्रताव्रत ढ़ा० १ गा-१

साध नें श्रावक रतनां री माला, एक मोटी दूजी नांनी रे।
गुण गुंथ्या न्यारु तीर्थ नां, इविरत रह गइ कांनी रे॥

साधु के लिये हिंसा सर्वथा अकरणीय है, मोक्ष की दृष्टि से श्रावक के लिये भी वह सर्वथा अकरणीय है। किन्तु श्रावक कोरा मोक्षार्थी नहीं होता अर्थ और काम का भी अर्थी होता है। अर्थ और काम मोक्ष के साधन नहीं हैं। मोक्ष के प्रति तीव्र मनोभाव किसी एक व्यक्ति में होता है और जिसके वह होता है, उसके लिये मोक्ष के प्रतिकूल जो भी है वह करणीय नहीं रहता। किन्तु जिनका मनोभाव मोक्ष के प्रति इतना तीव्र नहीं होता, वे मोक्ष के बाधक कार्यों को भी करणीय मानते हैं। मोक्ष में बाधा आए यह उनकी चाह न भी हो किन्तु मोह का ऐसा उदय होता है कि वे मोक्ष के बाधक कार्यों को छोड़ने में अपने को असमर्थ पाते हैं। असामर्थ्य के कारण वे जीवन का जो मार्ग चुनते हैं उनमें उनके करणीय कार्यों की सीमा विस्तृत हो जाती है। मोक्ष का साधन धर्म है, हिंसा में धर्म नहीं है भले ही फिर वह आवश्यक हो। आचार्य भिक्षु ने कहा—प्रयोजनवश या निष्प्रयोजन किसी भी प्रकार से हिंसा की जाय उससे हित नहीं होता। जो धर्म के लिये हिंसा को आवश्यक मानते हैं, उनका बोधि-बीज—सम्यक् दृष्टिकोण ही लुप्त हो जाता है[1]।

महात्मा गांधी ने आवश्यक हिंसा के विषय में लिखा है—किसान जो अनिवार्य हिंसा करता है उसे मैंने कभी अहिंसा में गिनाया ही नहीं है। यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाय किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है[2]।

: ४ : अपना-अपना दृष्टिकोण

कोई सुई की नोक में रस्सा पिरोये वह आगे कैसे पैठे ?
वैसे ही कोई आदमी हिंसा में धर्म बताये वह बुद्धि में कैसे समाये[3]।
जो जीवों की हिंसा में धर्म बतलाते हैं वे जीवों के प्राणों की चोरी

१-अणुकम्पा ढा ६ गा ४८ :

अर्थ अनर्थ हिंसा कीधां, अहेत रो कारण तासो जी।
धर्म रे कारण हिंसा कीधां, बोध बीज रो नासो जी॥

२-अहिंसा पृ० ५०

३-साध्वाचार चौपई ढा० ६ गा-२८ :

सूई नाकें सिंघर पावें, कहो किम आगो पेंसे।
ज्यूं हिंसा मांहें धर्म परूपें, ते सालो साल न वेसें रे

करते हैं। वे भगवान की आज्ञा का लोपकर तीसरे व्रत का विनाश करते हैं[1]।

कुछ लोग कहते थे—धर्म के लिये हिंसा की जाय, वह विहित है। आचार्य भिक्षु ने कहा—देव, गुरु और धर्म के लिये हिंसा करनेवाला मूढ़ है—वह जिन-मार्ग के प्रतिकूल जा रहा है। वह कुगुरु के जाल में फँसा हुआ है[2]।

जो सम्यक्‌दृष्टि होता है, वह धर्म के लिये हिंसा नहीं करता[3]। जैसे लहू से भरा हुआ पीताम्बर लहू से साफ नहीं होता वैसे ही हिंसा से होनेवाली मलीनता हिंसा से नहीं धुलती[4]।

कुछ लोग कहते थे—धर्म के लिये जीव मारने में पाप इसलिये नहीं है कि उस समय मन शुद्ध होता है। मन शुद्ध हो तब जीव मारने में हिंसा नहीं है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—जान बूझ कर प्रयत्नपूर्वक जीवों को मारने वालों के मन को शुद्ध बतलाते है और अपने आप को जैन भी कहते हैं यह कितने आश्चर्य की बात है[5]!

१-अनुकम्पा ढा०६ गा-३२ :
ज्यां जीवां नें मार्‌यां धर्म परूपें, त्यां जीवां रो अदत्त लागो जी।
वले आगना लोपी श्री अरिहंतनी तिण सूँ तीजोंइ महावरत भागोजी॥

२-व्रताव्रत ढा० १ गा ३५ :
देव गुर धर्म नें कारण, मुढ हणें छ कायो रे।
उलटा परीया जिण मार्ग थी, कुर्गुरां दीया बेंहकायो रे॥

३-व्रताव्रत ढा० १ गा ३७ :
वीर कह्यो आचारंग मांहे, जिण ओलखीयो तत सारो रे।
समदृष्टी धर्म नें कारण, न करें पाप लिगारो रे॥

४-व्रताव्रत ढा० १ गा ३६ :
लोही खरड्यो जो पितंवर, लोही सुं केम धोवायो रे।
तिम हंसा में धर्म कीयां थी, जीव उजलो किम थायो रे॥

५-व्रताव्रत ढा०-६ दू-३ :
जीव मारें छें उदीर नें, तिणरा चोखा कहें परिणांम।
ते विवेक विकल सुधबुध विना, वले ग्यांनी धरावें नांम॥

कुछ लोग कहते थे—जीवों को मारे विना धर्म नहीं होता। शुद्ध मन से जीवों को मारने में दोष नहीं है[1]।

कुछ लोग कहते थे—जीवों को मारे विना मिश्र नहीं होता, जीव मरते हैं, उसका थोड़ा पाप होता है, पर दूसरे बड़े जीवों को तृप्ति मिलती है, यह धर्म है[2]।

आचार्य भिक्षु ने कहा—धर्म या मिश्र करने के लिये जीवों के प्राण भी लूटते हैं और मन को शुद्ध भी बतलाते हैं। यह कैसी विडम्बना है[3]।

दुनिया में मात्स्य न्याय चल रहा है। बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है, वैसे ही बड़े जीव छोटे जीवों को खा रहे है। खाना स्वाभाविक सा है, पर इस कार्य में धर्म बतलाते है, उनमें सुबुद्धि नहीं[4]।

नीति शास्त्र कहता है—जब स्वभाविक प्रवृत्ति और औचित्य में विरोध होता है, तभी कर्तव्यता की आवश्यकता होती है और कर्तव्य शास्त्र का निर्माण ऐसी ही स्थिति में होता है। यदि मनुष्य का कर्तव्य वही मान लिया जाय, जिसकी ओर मनुष्य की सहज प्रेरणा है, तो कर्तव्य अकर्तव्य के निर्णय की अपेक्षा ही नहीं रहेगी[5]।

बड़े जीवों में छोटे जीवों का उपयोग करने की सहज प्रवृत्ति है, पर इसमें औचित्य नहीं है, इसलिये यह अकर्तव्य है।

१-व्रताव्रत ढा० १२ गा-३४ :

केई कहे जीवा ने मार्‍या विना, धर्म न हुवे तांम हो।
जीव मार्‍या रो पाप लागें नही, चोखा चाहीजें निज परिणांम हो॥

२-व्रताव्रत ढाल १२ गा-३५ :

कई कहें जीव मारया विना, मिश्र न हुवें छें तांमहो।
पिण जीव मारण री सांनी करे। ले ले परिणांमां री नांमहो।

३-व्रताव्रत ढाल १२ गा-३६ :

केई धर्म ने मिश्र करवा भणी, छ कायरो करें घमसांण हो।
तिणरा चोखा परिणांम किहां थकी, पर जीवांरा लूटें छें प्राण हो॥

४-अणुकम्पा ढाल ७ दु १ :

मछ गलागल लोक में, सवला ते निवला नें खाय।
तिण मांहें धर्म परूपीयों, कुगुरां कुबुद्ध चलाय॥

५-नीतिशास्त्र-पृ० १६६

कुछ लोग कहते थे—जीवों को जिलाना धर्म है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—जो साधु हैं, जिनकी लय मुक्ति से लग चुकी है, वे जीने मरने के प्रपञ्च में नहीं फसते[1]।

गृहस्थ ममता में बैठा है और साधु समता में। साधु धर्म और मुक्त ध्यान में रत रहते हैं, इसलिये मृतोंकी चिन्ता में नहीं फँसते[2]। गृहस्थ में ममत्व होता है इसलिये यह जिलाने का यत्न करता है और मृत व्यक्तियों की चिन्ता करता हैं।

कुछ लोग कहते थे, जिसे उपदेश न दिया जा सके, अथवा समझाने पर भी जिसका हृदय न बदले, उसे हिंसा से बल-पूर्वक रोकना भी धर्म है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—एक के चाँटा मारना और दूसरे का उपद्रव मिटाना, यह रागद्वेष का कार्य है[3]।

समाज में ऐसा होता है पर इसे धर्म की कोटि में नहीं रखा जा सकता। गृहस्थ जो कुछ करता है, वह धर्म ही करता है, ऐसा नहीं है। सामाजिक जीवन को एक अनात्मवादी भी सुचारु रूप से चला सकता है। समाज के क्षेत्र में दायित्व और कर्तव्य का जितना व्यापक महत्त्व है, उतना धर्म का नहीं। धर्म वैयक्तिक वस्तु है। यद्यपि उसका परिणाम समाज पर भी होता है, पर उसका मूल व्यक्ति हित में सुरक्षित है। उसकी अराधना व्यक्तिगत होती है और वह व्यक्ति के ही पवित्र हृदय से उत्पन्न होता है। अनात्मवादी की दृष्टि में धर्म का कोई स्वतः सम्मत मूल्य नहीं होता ; जबकि समाज के प्रति होने वाले दायित्वों और कर्तव्यों का उनकी दृष्टि में भी मूल्य होता है। इसलिये यह तर्क भी बहुत मूल्यवान् नहीं है कि समाज के लिये आवश्यक कर्तव्यों को धर्म का चोगा पहनाये बिना समाज-व्यवस्था सुन्दर ढंग से नहीं चल सकती। सम्भव है कभी ऐसा अनुभव किया गया हो, पर आजके बुद्धिवादी युग में ऐसा करना आवश्यक नहीं है।

१-अणुकम्पा ढा० २-गा-४ :
जीवणों मरणों नहीं चावें, साध क्यांने बंधावे छुडावे।
ज्यांरी लागी मुगत सूं ताली, नही करें तिके रुखवाली ॥

२-अणुकम्पा ढा० २-गा १२ :
गृहस्थ नो सरीर ममता में, साधु बेंठों समता में।
रह्या धर्म सुकल ध्यान ध्याई, मूआं गयांरी फिकर न काई ॥

३-अणुकम्पा ढा० ३ गा १७ :
एकण रे दे रे चपेटी, एकण रो उपद्रव मेटी।
ए तो राग द्वेषनो चालो, दसवीकालक संभालो ॥

कुछ लोग कहते थे—हम जीवों की रक्षा के लिये उपदेश देते हैं, इससे बहुत जीवों को सुख होता है[1]। आचार्य भिक्षु ने कहा—हम हिंसक को पाप से बचाने के लिये उपदेश देते हैं। एक व्यक्ति समझकर हिंसा को छोड़ता है, तब ज्ञानी जानता है कि इसे सुख मिला है; इसका जन्म-मरण का संकट टला है[2]।

एक सेठ की दो पत्नियां थीं। एक धार्मिक थी और दूसरी धर्म का मर्म नहीं जानती थी। सेठ विदेश गया हुआ था। अकस्मात् वहीं उसकी मृत्यु हो गई। घर पर समाचार आया। एक पत्नी फूट-फूट रोने लगी। दूसरी पत्नी, जो धार्मिक थी, नहीं रोई। उसने समभाव रखा। लोग बहुत आए। सबने देखा—एक पत्नी रो रही है, दूसरी शान्त है। लोगों ने उसे सराहा जो रो रही थी। जो नहीं रो रही थी उसकी निन्दा की। जो रोती है वह पतिव्रता है, उसे पति के मरने का कष्ट हुआ है। यह पतिव्रता नहीं है, इसे पति के मरने का कोई कष्ट नहीं है, भला यह क्यों रोये? यह तो चाहती थी कि पति मर जाए, फिर इसके आँसू क्यों आये? संयोग वश साधु भी उधर से चले गये। उन्होंने उसे सराहा जो समभाव से बैठी थी। लौकिक दृष्टि से देखने वालों को वह अच्छी लग रही थी जिसकी आँखों में आंसू थे। लोकोत्तर दृष्टि से देखने वालों को वह अच्छी लग रही थी जिसकी आँखों में समभाव लहरा रहा था। यह अपना-अपना दृष्टिकोण है[3]।

कोई गृहस्थ किसी साधुसे व्रत लेकर अपने घर जाने लगा। बीचमें दो मित्र मिले, एक ने कहा—जो व्रत लिया है, उसे अच्छी तरह से पालना। दूसरे ने कहा—शरीर का ध्यान रखना, कुटुम्ब का प्रतिपालन करना। इन दोनों मित्रों

१-अणुकम्पा ढाल ५ गा० १६-१७ :

हिवें कोइक अग्यांनी इम कहें, छ काय काजें हो थां छां धर्म उपदेश।
एकण जीव नें समझावीयां, मिट जाए हो घणा जीवांरो कलेश॥
छ काय घरे साता हुइ, एहवो भाषें हो अण तीरथी धर्म।
त्यां भेद न पायो जिण धर्म रो, ते तो भूला हो उदें आयो मोह कर्म॥

२-अणुकम्पा ढा० ५ गा० १८-१६ :

हिवें साध कहें तुम ते सांभलों, छकाया रे हो साता किण विध थाय।
सुभ असुभ बांध्या ते भोगवें, नहीं पाम्या हो त्यां मुगत उपाय॥
हणवा सुंस कीया छकाय नां, तिणरे टलीया हो मेला असुभ कर्म पाप।
ग्यांनी जाणें साता हुई एहनें, मिट गया हो जन्म मरण संताप॥

३-दृष्टान्त : १३०

में जो व्रत में दृढ़ रहने की सलाह देता है, वह धर्म का मित्र है, और जो अव्रत के सेवन की सलाह देता है, वह धार्मिक मित्र नहीं है[1]। पर अपना-अपना दृष्टिकोण है।

एक राजा की रानी एक दिन गवाक्ष में बैठी-बैठी राजमार्ग की ओर झाँक रही थी। उस समय एक युवक उधर से जा रहा था, संयोगवश दोनों की दृष्टि मिल गई। युवक की सुन्दरता से रानी खिंच गई और रानी के सौन्दर्य ने युवक को मोह लिया। दोनों की तड़प ने उपाय निकाल लिया। वह युवक 'फूलाँ मालिन', जो रनिवास में पुष्पाहार लाया करती थी, की पुत्रवधु बन महलों में आने लगा। एक दिन इस षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ हो गया। राजा ने, रानी और युवक को इसलिये मृत्यु-दण्ड दिया कि वे दुराचार करते थे; मालिन को इसलिये मृत्यु-दण्ड दिया कि वह दुराचार करा रही थी। राजाज्ञा से वे बाजार के बीच बिठा दिये गये। राज पुरुष गुप्त रूप से खड़े थे। जो लोग उन्हें धिक्कारते वे चले जाते और जिन्होंने उनकी प्रशंसा की उन्हें पकड़ लिया गया। राजाने उन्हें भी इसलिये मृत्यु-दण्ड दिया कि वे दुराचार का अनुमोदन कर रहे थे।

एक आदमी कोई कार्य करता है, दूसरा उसे करवाता है और तीसरा उसका अनुमोदन करता है ये तीनों एक ही श्रेणी में आते हैं।

करना, मन, वाणी, और काया से होता है।

कराना, मन, वाणी और काया से होता है।

अनुमोदन, मन, वाणी और काया से होता है।

इन्हें परिभाषा के शब्दों में करण योग कहा जाता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—जो लोग असंयम के सेवन में धर्म बतलाते हैं, वे करणयोग का विघटन

१-व्रताव्रत ढा० २ गा० २३-२७ :

जगन मझिम उतकष्टा श्रावक, तीनांरी एकज पांतो रे।
इविरत छै सगलांरी माठी, तिणमें म राखो भ्रांतो रे॥
कोइ श्रावक ना व्रत ले साधां पें, आयो जिण दिस जायो रे।
मार्ग में दोय मित्री मिलिया, ते बोल्या जूदांर वायो रे॥
एक कहें व्रत चोखा पालें, ज्यूं कटें आठोइ कर्मो रे।
काल अनादि रे भ्रमन्तें भ्रमन्तें, पायो जिणवर धर्मो रे॥
एक कहें तू आगार सेवें, सचितादिक सब संभाली रे।
जतन घणां कीजें डीलांरा, वले कुटुंब तणी प्रतपाली रे॥
व्रत पालणरी आज्ञा दीधी, एतो धर्म रो मित्री मोटो रे।
अविरत आग्या दीधी तिणनें, ग्यांनी तो जांणे खोटो रे॥

करते हैं[1]। एक व्यक्ति असंयम का आचरण स्वयं करे, दूसरा दूसरों से करवाये, और तीसरा करने वालों का अनुमोदन करे, ये तीनों एक कोटि में हैं[2]।

मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं असंयमी, संयमासंयमी और संयमी। आचार्य भिक्षु के पास धर्म और अधर्म की क़सौटी थी—संयम और असंयम। जो कार्य संयम की कसौटी पर खरा उतरे वह धर्म और खरा न उतरे वह अधर्म। संयम धर्म है और असंय अधर्म। इस मान्यता में सम्भवतः मतभेद नहीं है। मतभेद इसमें है कि किस कार्य को संयम में गिना जाए और किसको असंयम में।

आचार्य भिक्षु के अनुसार जो संयमी नहीं हैं इसके जीवन-निर्वाह के सारे उपक्रम असंयम में हैं और वे असंयम में हैं इसलिये धर्म नहीं है[3]।

कुछ लोग कहते थे—असंयमी स्वयं खाए वह पाप है और दूसरों को खिलाए वह धर्म है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—असंयमी स्वयं खाए वह पाप और वह दूसरे असंयमी को खिलाए वह धर्म, यह कैसे[4]? असंयमी का खाना यदि असंयम में है तो असंयम का सेवन करना कराना दोनों एक कोटि के कार्य हैं। इनमें से एक को पाप एक को धर्म कैसे माना जाय?

असंयमी कोई वस्तु अपने अधिकार में रखता है वह पाप है तो उस वस्तु को दूसरे असंयमी के अधिकार में देने से धर्म कैसे होगा? यह दृष्टिकोण

१-व्रताव्रत ढ़ाल १ गा० ६
करण जोग विगटावें अग्यांनी, लाग रह्या मत भूठें रे।
न्याय करे समभावें तिणसूं, क्रोध करे लड़वा उठे रे॥

२-व्रताव्रत ढाल ५ गा० ११
इव्रत सुं बंधें कर्म, तिण में नाहीं निश्चै धर्म।
तीन करण सारिखा ए, ते विरलां परिखाए॥

३-व्रताव्रत ढ़ाल १६ दू० ७-८
तिणरों खांणों पेंणोंने पहरणों, वले उपधि उवभोग परिभोग।
ते सगलाइ राख्या ते इविरत में, त्यांनें भोगव्यां सावद्य जोग॥
भोगवें ते पहले करण पाप छें, भोगवावें ते दूजे करण जांण।
सरावें ते करण तीसरें, सारां रे पाप लागें छें आंण॥

४-व्रताव्रत ढ़ा० १ गा० ७
खायां पाप खवायां धर्म, ए अन्यतीर्थी री वायो रे।
विरत-इविरत री खबर न कांइ, भोलां ने दे भरमायो रे॥

विशुद्ध आध्यात्मिक होने के कारण लौकिक दृष्टि से मेल नहीं खाता है। फिर भी उन्होंने जो तर्क उपस्थित किया है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जो कोई भी व्यक्ति संयम और असंयम की कसौटी से धर्म और अधर्म को कसेगा उसके सामने वे ही निष्कर्ष आयेंगे जो आचार्य भिक्षु के सामने आए थे। हम करुणा की कसौटी से धर्म और अधर्म को परखें तो उन निष्कर्षों से हमारा मत-भेद कैसे नहीं होगा, जो संयम की कसौटी से परखने पर निकले ?

खानेवाले और लेनेवालों को पाप तथा खिलानेवाले और देनेवाले को धर्म होता है यह विचित्र कसौटी है[1] !

आचार्य भिक्षु ने कहा—भगवन ! मैंने यह समझा है और इसी तुला से तोला है कि जिसे करना धर्म है उसका कराना और अनुमोदन करना भी धर्म है और जिसे करना अधर्म है उसका कराना, और अनुमोदन करना भी अधर्म है[2] ।

वृक्ष को काटने में पाप है तो उसे काटने के लिये कुल्हाड़ी देने और उसका अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं है[3] ।

गाँव जलाने में पाप है तो उसे गाँव जलाने के लिये अग्नि देने और उसका अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं है[4] ।

१-व्रताव्रत ढा० ७ गा० १६, २४ :

जव जीमण वाला नें पाप वतावें, हिंसा करण वाला नेइ कहें छै पापी।
जीमावण वाला नें धर्म कहें छें, आ सरधा भेपधारयां थांपी॥
ते देण वाला नें तो धर्म वतावें, लेवाल नें तो कहें पापज होवें।
तो धर्म करण नें मूढ़ अग्यांनी, सर्व सामग्री नें कांय डवोवें॥

२-व्रताव्रत ढाल १२ गा० ३३ :

जीव खाधां खवायां भलो जांणीयां, तीनोंइ करणां पाप हो।
आ सरधा परूपी छें आपरी, ते पिण दीधी आगना उथाप हो॥

३-व्रताव्रत ढाल १५ गा० ४८ :

रुंख वाढ़ण नें साध कुहाड़ो दीधों, तिण कुहड़ा सूं रुंख वाढें छें आणों।
रुंख वाढें तिणनें साज दीयो छें, त्यां दोयां ने एकंत पापज जांणों॥

४-व्रताव्रत ढाल १५ गा० ५०,५३ :

गांव वालण नें साझ अगन रों दीधों, तिणसूं गांम वालें आंणों।
गांम वालें तिणनें साझ देवें तिणनें, यां दोयां रो लेखो वरावर जांणों॥
पाप करण रों साझ देसी तिणनें, एकंत पाप लागें छें आंणों।
पाप रों साझ दीयां नहीं धर्म नें मिश्र, समझो रे समझो थे मूढ अंयाणो॥

युद्ध करने में पाप है तो युद्ध करने के लिये शस्त्र देने और उस का अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं है

कुछ लोगों ने कहा—जीव को मारने में पाप है, मरवाने और मारने वाले का अनुमोदन करने में पाप है वैसे ही कोई किसी को मार रहा हो उसे देखने में भी पाप है। आचार्य भिक्षु ने कहा—तीन बातें ठीक हैं पर देखने वाले को पाप कहना अनुचित है[1]। यदि देखने मात्र से पाप लगे तो पाप से बचा ही नहीं जा सकता। मारने, मरवाने, और मारने का अनुमोदन करने से आदमी बच सकता है पर देखने से बचना उसके हाथ की बात नहीं है। जो सर्वज्ञ हैं वे सब कुछ देखते हैं। यदि देखने मात्र से पाप लगे तो वे उससे कैसे बच पायेंगे? आचार्य भिक्षु ने जैन आगमों की इस सीमा का ही समर्थन किया कि करण, कारावण और अनुमोदन ये तीन ही धर्म और अधर्म के साधन हैं और नहीं।

: ५ : धर्म और पुण्य

गेहूँ के साथ भूसा होता है पर भूसे के लिये गेहूँ नहीं बोया जाता। धर्म के साथ पुण्य का बन्धन होता है पर पुण्य के लिये धर्म नहीं किया जाता। जो पुण्य की इच्छा करता है उसके पाप का बन्ध होता है[2]।

धर्म आत्मा की मुक्ति का साधन है, पुण्य शुभ परमाणुओं का बन्धन है। बन्धन और मुक्ति एक नहीं हो सकते—धर्म और पुण्य भी एक नहीं हो सकते।

पाप लोहे की बेड़ी है और पुण्य सोने की। बेड़ी आखिर बेड़ी है, भले फिर वह लोहे की हो या सोने की। धर्म बेड़ी को तोड़नेवाला है। आत्मा में मन, वाणी और काया की चञ्चलता होती है, तब तक परमाणु उसके चिपकते रहते हैं। प्रवृत्ति धर्म की होती है तो पुण्य के परमाणु चिपकते हैं और प्रवृत्ति अधर्म की होती है तो पाप के परमाणु चिपकते हैं। आत्मा पर जो अणुओं का आवरण होता है उसे हर कोई आदमी नहीं जान पाता। जिनकी दृष्टि विशुद्ध

१-अणुकम्पा ढाल ४ दू० २ :

मार्‍यां मरायां भलो जाणीयां, तीनोंइ करणां पाप।
देखण वाला नें जे कहे, ते खोटा कुगुर सपाप॥

२-नव पदार्थ : पुण्य पदार्थ गा० ५२ :

पुन तणी वंछा कीयां, लागे छै एकंत पाप हो लाल।
तिण सुं दुःख पामें संसार में, वधतो जाये सोग संताप हो लाल॥

होती है वे उसे प्रत्यक्ष देख लेते हैं। धर्म इसलिये किया जाना चाहिए कि आत्मा इन दोनों आवरणों से मुक्त हो।

जैन-परम्परा में एक मान्यता थी कि अमुक कार्यों में धर्म होता है और अमुक-अमुक कार्यों में धर्म नहीं होता, कोरा पुण्य होता है। आचार्य भिक्षु ने इसे मान्यता नहीं दी। उन्होंने कहा—कोरा पुण्य नहीं होता। पुण्य का बन्धन वहीं होता है जहाँ धर्म की प्रवृत्ति हो। धर्म-मुक्ति का हेतु है इसलिये उससे पुण्य का बन्धन नहीं होता। मुक्ति और बन्धन दोनों साथ-साथ चलें तो मुक्ति हो ही नहीं सकती। धर्म की पूर्णता प्राप्त नहीं होती तब तक उसके साथ भी पुण्य का बन्धन होता है। और जब धर्म की पूर्णता प्राप्त होती है तब पुण्य का बन्धन भी रुक जाता है। बन्धन रुकने के पश्चात् मुक्ति होती है।

पुण्य की स्वतन्त्र मान्यता के आधार पर जैनों में कई परम्पराएँ चल पड़ीं। कुछ लोग खिलाकर उपवास करवाते थे। उनका विश्वास था कि ये उपवास करेंगे इसका लाभ हमें मिलेगा। आचार्य भिक्षु ने इसका तीव्र प्रतिवाद किया। उन्होंने यह स्मरण कराया कि धर्म खरीदने-बेचने की वस्तु नहीं है। उसका विनिमय नहीं होता। दूसरे का किया हुआ धर्म और अधर्म अपना नहीं होता[1]। ऐसा विश्वास इतर धर्मों में भी रहा है। जैसे कुछ लोग समझने लगते हैं कि धर्मभाव और पुण्य खरीदने बेचने की चीज है। ब्राह्मण को दक्षिणा दी उसने यज्ञ और जाप किया और उनका फल दक्षिणा देनेवाले के हिसाब में जमा हो गया। रोम के पोप की ओर से क्षमा-पत्र बेचे जाते थे। खरीदने वाले समझते थे कि ये क्षमा पत्र उन्हें परलोक में पाप-दण्ड से बचा देंगे। इस प्रकार का विश्वास दाक्षणिक बन्धन है[2]।

आचार्य भिक्षु ने इस विचार के विरुद्ध जो क्रान्ति की वह उनकी एक बहुमूल्य देन है। उससे मनुष्य को अपनी पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता और अपने पुरुषार्थ में विश्वास उत्पन्न होता है।

: ६ : प्रवृत्ति और निवृत्ति

जो रात को भटक जाए उसे आशा होती है कि दिनमें मार्ग मिल जाएगा। पर जो दुपहरी ही में भटक जाए वह मार्ग मिलने की आशा कैसे रखे[3]।

१—पेलारो लगायो पाप न लागे, आपरो लगायो पाप लागे।
सावद्य जोग दोयां रा जुआ जुआ वर्ते, त्यांरो पाप लागे छे सागे॥

२—दर्शन संग्रह (डा० दीवानचन्द) पृ० ५६

३—व्रताव्रत ढा० १ गा० ६२
राते भूला तो आशा राखें, दीयां सुझसी मुला रे।
कहो ने आंसा किण विध राखें, दीयो दोपारां रा भूला रे॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति की चर्चा उतनी ही पुरानी है जितना पुराना धर्म का उपदेश है। यथार्थवादी युग में प्रवृत्ति का पलड़ा भारी होता है और आत्मवादी युग में निवृत्ति का। प्रवृत्ति का अर्थ है चंचलता और निवृत्ति का अर्थ है स्थिरता, चञ्चलता का अभाव। मनुष्य का सारा प्रयत्न योग और वियोग के अन्तराल में चलता है। वह प्रिय का योग चाहता है और अप्रिय का वियोग। चाह मन में उत्पन्न होती है। मन को इन्द्रियाँ प्रेरित करती हैं। वे पाँच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द इनके विषय हैं। हमारा ग्राह्य जगत इतना ही है। इन्द्रियाँ अपने अपने विषय को जानती हैं और अपनी जानकारी मन तक पहुँचा देती हैं। मन के पास कल्पना-शक्ति है। वह इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त जानकारी के अनुसार ज्ञात पदार्थों में प्रियता और अप्रियता की कल्पना करता है। फिर वह इन्द्रियों को अपने प्रिय विषय की ओर प्रेरित करता है—रक्त करता है, अप्रिय विषय से विरत करता है—द्विष्ट करता है। यह है इन्द्रिय और मन के विनिमय का क्रम। आध्यात्मिक जगत में इसीको प्रवृत्ति कहा जाता है। निवृत्ति का अर्थ है—इन्द्रिय और मन का संयम; राग-द्वेष का नियन्त्रण। *निवृत्ति का अर्थ नहीं करना ही नहीं है।* इन्द्रिय और मन पर नियन्त्रण करने में भी उतना ही पुरुषार्थ आवश्यक होता है जितना किसी दूसरी प्रवृत्ति करने में चाहिये। बल्कि कहना यह चाहिये कि निवृत्ति में प्रवृत्ति की अपेक्षा कहीं अधिक उत्साह और पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। निवृत्ति का अर्थ केवल निषेध या निठल्लापन नहीं है। कोरा निषेध हो ही नहीं सकता। आत्मा में प्रवृत्ति होती है उसका अर्थ है सांसारिक निवृत्ति। आत्मा में निवृत्ति होती है उसका अर्थ है सांसारिक प्रवृत्ति। प्रवृत्ति धार्मिक भी होती है पर वह न कोरी प्रवृत्ति होती है और न कोरी निवृत्ति।

जहाँ अशुभ की निवृत्ति और शुभ की प्रवृत्ति हो उसे धार्मिक प्रवृत्ति कहा जाता है। मोक्ष का अर्थ है—दुःख की निवृत्ति। किन्तु दुःख की निवृत्ति ही मोक्ष नहीं है। कोरा अभाव, शून्य या तुच्छ होता है। दुःख की निवृत्ति का अर्थ है—अनन्त सुख की प्राप्ति। मोक्ष में पौद्गलिक सुख-दुःख का निवर्तन होता है इसलिये कहा जाता है—मोक्ष का अर्थ है दुःख की निवृत्ति। मोक्ष में आत्मिक सुख का सतत् उदय रहता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि मोक्ष का अर्थ है—सुख की प्रवृत्ति। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सापेक्ष हैं। जिस पुरुषार्थ का प्रेरक सांसारिक उत्साह होता है और जहाँ संयम की निवृत्ति होती है उसे हम प्रवृत्ति कहते हैं और जिस पुरुषार्थ

का प्रेरक धार्मिक उत्साह होता है और जहाँ असंयम की प्रवृत्ति नहीं होती उसे हम निवृत्ति कहते हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति का प्रयोग सापेक्ष दृष्टि से किया जाता है।

कहा जाता है कि जीवन का लक्ष्य भावात्मक होना चाहिये, निषेधात्मक नहीं। इसमें जैन-दर्शन की असहमति ही नहीं है। भोगवादी जैसे जीवन का अन्तिम उद्देश्य भोगात्मक सुखानुभूति मानते हैं वैसा भावात्मक लक्ष्य नहीं होना चाहिये और आत्मवादी जैसे जीवन का अन्तिम उद्देश्य अनन्त सुख की प्राप्ति मानते हैं वैसा भावात्मक लक्ष्य होना चाहिये।

आचार्य भिक्षु जैन-दर्शन के भावात्मक लक्ष्य को आधार मानकर चले। इसलिये उन्होंने असंयम की निवृत्ति और संयम की प्रवृत्ति पर अधिक बल दिया। इसीलिये कुछ लोग कहते हैं कि उनका दृष्टिकोण निषेधात्मक है। उन्होंने 'मत करो' की भाषा में ही तत्त्व का प्रतिपादन किया है।

इस उक्ति में सच्चाई है भी और नहीं भी है। किसी एक का निषेध है इसका अर्थ किसी एक का विधान भी है। एक धार्मिक व्यक्ति असंयत प्रवृत्ति को अस्वीकार करता है, इसका अर्थ निषेध ही नहीं है संयत प्रवृत्ति का स्वीकार भी है। असंयम की भूमिका से देखा जाय तो वह निषेध है और संयम की भूमिका से देखने पर वह विधान है।

आचार्य विनोबा भावे ने निवृत्ति धर्म पर एक टिप्पणी की है। एक भेंट का उल्लेख करते हुए लिखा है[1] :

"हमें कुछ ऐसे जैन भाई मिले, जो कहते हैं कि दया करना निवृत्ति धर्म के खिलाफ है; आध्यात्मिकता के खिलाफ है। निवृत्ति-धर्म कहता है कि हर एक को अपना प्रारब्ध भोगना चाहिये। हम किसी बीमार की सेवा करते जाते हैं तो उसके प्रारब्ध में दखल देते हैं। मैं बीमार हुआ तो मान-लो कि पिछले जन्म की या इस जन्म की कुछ गलती होगी। इस जन्म की गलती हो तो उसे सुधारूँगा। पुराने जन्म की हो तो प्रारब्ध भोगूँगा। इस तरह मैं अपने लिए कह सकता हूँ, लेकिन लोग दुःखी व बीमार पड़े हैं और मैं ज्ञानी होकर उनसे यह कहूँ कि तुम्हारा प्रारब्ध क्षय हो रहा है, उसमें मैं सेवा करके दखल नहीं दूँगा क्योंकि मैं निवृत्ति-प्रधान हूँ तो क्या कहा जाएगा? अध्यात्मवादी सेवा को ही गलत मानते हैं। यह बात ठीक है कि सेवा में अहंकार हो तो वह सेवा अध्यात्म के खिलाफ होगी, लेकिन क्या यह जरूरी है कि सेवा में अहंकार हो ही। सेवा निष्काम भी हो सकती है। भगवद्गीता

१—विनोबा प्रवचन—मंगलवार २६ मई, ५६

ने हमें निष्काम सेवा करना सिखाया है, परन्तु लोगों ने आध्यात्मिक सेवा को यहाँ तक निवृत्ति परायण बताया कि उनका सेवा या नीति से कोई संबंध नहीं रहा है।"

"हम किसी बीमार की सेवा करने जाते हैं तो उसके प्रारब्ध में दखल देते हैं"—यह मान्यता किसी भी जैन सम्प्रदाय की नहीं है। जैनों का कर्मवाद कारण-सामग्री को भी मान्यता देता है। सुख के अनुकूल कारण सामग्री मिलने पर सुख का उदय भी हो सकता है। यही बात दुःख के लिये है। हम किसी के सुख दुःख के निमित्त बन सकते हैं।

विनोबाजी ने जिस तथ्य की आलोचना की है वह या तो उनके सामने सही रूप में नहीं रखा गया या उन्होंने उसे अपनी दृष्टि से ही देखा है। इस चर्चा का मूल आचार्य भिक्षु के इस जीवन-प्रसंग में है :

एक व्यक्ति ने पूछा—भीखणजी! कोई बकरे को मार रहा हो उससे बकरे को बचाया जाय तो क्या होगा?

मारनेवाले को समझा कर हिंसा छुड़ाई जाय तो धर्म होगा—आचार्य भिक्षु ने कहा। चर्चा को आगे बढ़ाते हुए आपने कहा—ये दो अँगुलियाँ हैं। एक को मारनेवाला मान लो और एक को बकरा। इन दोनों में कौन डूबेगा? मरनेवाला या मारनेवाला? नरक में कौन जाएगा? मरनेवाला या मारनेवाला?

प्रश्नकर्ता ने उत्तर दिया—मारनेवाला।

साधु डूब रहा हो उसे तारे या नहीं डूब रहा हो उसे? मारनेवाले को समझाए या मरनेवाले को?

मारनेवाले को समझाकर हिंसा छुड़ाए वह धर्म है, मोक्ष का मार्ग है। दूसरा उदाहरण देते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा :

एक साहूकार के दो पुत्र हैं। एक ऋण लेता है और दूसरा ऋण चुकाता है। पिता किसको वर्जेगा? ऋण लेनेवाले को या ऋण चुकानेवाले को?

साधु सब जीवों के पिता के समान है। मारनेवाला अपने सिर ऋण करता है और मरनेवाला ऋण चुकाता है। साधु मारनेवाले को समझाएगा कि तू ऋण क्यों ले रहा है। इससे भारी होकर डूब जाएगा, अधोगति में चला जाएगा। इस प्रकार मारने या ऋण लेनेवाले को समझा कर हिंसा छुड़ाना धर्म है[1]।

यह हृदय परिवर्तन की मीमांसा है। आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण यह था

१-दृष्टान्त : १२८

कि मरनेवाले को बचाने का यत्न किया जाय, यह मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। किन्तु मारनेवाले को हिंसा के पाप से बचाने का यत्न किया जाय, इसमें धर्म की स्फुरणा है।

विनोबाजी ने कहा है—सेवा में अहंकार होगा तो वह सेवा अध्यात्म के खिलाफ होगी।

कोई कहता है—सेवा में स्वार्थ हो तो वह सेवा अध्यात्म के खिलाफ होगी।

कोई कहता है—सेवा में असंयम हो तो वह सेवा अध्यात्म के खिलाफ होगी।

अध्यात्मवादी सेवा को ही गलत नहीं मानते हैं। वे उसे अनेक दृष्टिकोणों से देखते हैं और उसे अनेक भूमिकाओं में विभक्त करते हैं। डाक्टर मनुष्य-समाज की सेवा के लिये नये-नये प्रयोग करते हैं। महात्मा गाँधी ने उनकी आलोचना की है। वे लिखते हैं—"अस्पताल तो पाप की जड़ है। उनके कारण मनुष्य अपने शरीर की तरफ से लापरवाह हो जाता है। और अनीति बढ़ती है। अंग्रेज डाक्टर तो सबसे गये बीते हैं। वे शरीर की झूठी सावधानी के लिये ही हर साल लाखों जीवों की जान लेते हैं। जीवित प्राणियों पर वे विभिन्न प्रयोग करते हैं। यह बात किसी धर्म में नहीं है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी धर्म यही कहते हैं कि मनुष्य के शरीर के लिए इतने जीवों की जान लेने की जरुरत नहीं है[1]।"

युद्ध में लड़ने वाले सिपाहियों की सेवा को भी युद्ध को प्रोत्साहन देना माना है[2]।

आचार्य भिक्षु ने कहा—असंयमी की सेवा असंयम को और संयमी की सेवा संयम को प्रोत्साहन देती है। इन दृष्टियों से यह स्पष्ट है कि सेवा न तो अध्यात्म के सर्वथा अनुकूल है और न सर्वथा प्रतिकूल। सामाजिक भूमिका में रहनेवालों के लिये समाज सेवा का निषेध नहीं हो सकता, भले फिर वह असंयम की सीमा में ही क्यों न हो। मुनियों के लिए भी समाज-सेवा का सर्वथा विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनकी भी अपनी कुछ सीमाएँ हैं।

समाज और अध्यात्म की रेखाएँ समानान्तर होते हुए भी मिलती नहीं है। कोई सामाजिक प्राणी के लिये असंयम की निवृत्ति की उपयोगिता है और वह भी एक सीमा तक। पर आध्यात्मिक प्राणी के लिये असंयम की निवृत्ति

१-हिन्द स्वराज्य पृ० ६२

२-हिन्दी नवजीवन २० सितम्बर १६२८

परम धर्म है और वह भी निस्सीम रूप में। प्रवृत्ति और निवृत्ति की मात्रा और उनका महत्त्व सबके लिये एक रूप नहीं है।

दया शब्द दो भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। एक भावना सामाजिक है और दूसरी धार्मिक। समर्थ व्यक्ति असमर्थ व्यक्ति के कष्टों से द्रवित हो उठता है, यह दीन के प्रति उत्कृष्ट की सहानुभूति है। इस भावना की अभिव्यक्ति दया शब्द से होती है। एक व्यक्ति समर्थ या असमर्थ सभी जीवों को कष्ट देने का प्रसंग आते ही द्रवित हो जाता है। यह एक आत्मा की शेष सब आत्माओं के प्रति समता की अनुभूति है। इस भावना की अभिव्यक्ति भी दया शब्द से होती है। इसलिये यह कहना उचित है कि दया शब्द दो भावनाओं का प्रतिनिधि है। द्रवित होने के बाद दो कार्य हैं—कष्ट न देना और कष्टों का निवारण करना। कष्ट न देना यह सर्व सम्मत है और कष्टों का निवारण करना इसमें कई प्रश्न उपस्थित होते हैं। इसीलिये आचार्य भिक्षु ने कहा—सब दया दया पुकारते हैं। दया-धर्म सही है पर मुक्ति उन्हीं को मिलेगी जो उसे पहचान कर उसका पालन करेंगे[1]। दया के नाम से भुलावे में मत आवो। गहराई में पैठ उसे परखो[2]।

कष्ट निवारण क्यों किया जाय ? कैसे किया जाय ? और किसका किया जाय ? इसका एक उत्तर नहीं है।

समाज-धर्म की भूमिका से इनका उत्तर मिलता है—कष्टों का निवारणा जीवों को सुखी बनाने के लिये किया जाय, जैसे तैसे किया जाय और मनुष्यों का किया जाय और जहाँ मनुष्य जाति के हित में बाधा न पड़े वहाँ औरों का भी किया जाय।

आत्म-धर्म की भूमिका से इनका उत्तर मिलता है—कष्टों का निवारण आत्मा को पवित्र बनाने के लिये किया जाय, शुद्ध साधनों के द्वारा किया जाय और सबका किया जाय।

व्यास के शब्दों में अष्टादश पुराणों का सार यह है कि परोपकार से पुण्य होता है और पर-पीड़न से पाप।

१-अनुकम्पा ढ़ाल ८ दू० ।

दया २ सहूको कहैं, ते दया धर्म छें ठीक।
दया ओलख ने पालसी, त्यांने मुगत नजीक॥

२-अनुकम्पा ढ़ा० १ दू० ४

भोलेंइ मत भूलजों, अणुकम्पा रे नांम।
कीजो अन्तर पारखा, ज्यूं सीभें आतम कांम॥

किन्तु यह एक सामान्य सिद्धान्त है। दूसरों को पीड़ित नहीं करना चाहिये यह संयमवाद है। इसलिये आत्म-धर्म की भूमिका में यह सर्वथा स्वीकार्य है, वैसे समाज-धर्म की भूमिका में नहीं है। समाज के क्षेत्र में असंयम को भी स्थान प्राप्त है। दूसरों का उपकार करना चाहिये, यह समाजवाद है। इसलिये समाज धर्म की भूमिका में यह सर्वथा स्वीकार्य है, वैसे आत्म-धर्म की भूमिका में नहीं है।

आत्म-धर्म के क्षेत्र में असंयम को स्थान प्राप्त नहीं है। समाज के क्षेत्र में असंयम का सर्वथा परिहार नहीं हो सकता और धर्म के क्षेत्र में असंयम का सर्वथा स्वीकार नहीं हो सकता। इस दृष्टि को ध्यान में रख कर आचार्य भिक्षु ने दया और उपकार को दो भागों में विभक्त किया—लौकिक दया और लोकोत्तर दया, लौकिक उपकार और लोकोत्तर उपकार, समाज धर्म और आध्यात्मिक धर्म।

जिसमें संयम और असंयम का विचार प्रधान न हो किन्तु करुणा ही प्रधान हो वह लौकिक दया है। जहाँ करुणा संयम से अनुप्रमाणित हो वह लोकोत्तर दया है। अग्नि में जलते हुए को किसी ने बचाया, कूए में गिरते हुए को किसी ने उबारा—यह लौकिक उपकार है[1]।

जन्म-मृत्यु की अग्नि में झुलसते हुए को संयमी बना किसी ने बचाया, पाप के कुए में गिरते हुए को उपदेश देकर किसी ने उबारा—यह लोकोत्तर उपकार है[2]। किसी दरिद्र को धन-धान्य से सम्पन्न कर सुखी बना देना लौकिक उपकार है[3]।

एक आदमी तृष्णा की आग में झुलस रहा है उसे उपदेश देकर शान्त बना देना लोकोत्तर उपकार है[4]।

१-अनुकम्पा ढाल ८ गा० २
कोइ द्रवे लाय सूं बलतों राखें, द्रवे कूवो पडता नें झाल बचायो।
ओंतो उपगार कीयों इण भव रों, जे ववेक विकल स्यांने खबर न कायो॥

२-अनुकम्पा ढाल ८ गा० ३
घट में ग्यांन घालनें पाप पचखावें, तिण पडतो राख्यो भव कूआ माह्यों।
भाव लायसूं बलता नें काढें रखेसर, ते पिण गेंहलां भेद न पायो॥

३-अनुकम्पा ढाल ११ गा० ४
कोइ दलद्रो जीवनें धनवंत कर दें, नवजात रो परिग्रहो देइ भरपूर।
वलें विविध प्रकारें साता उपजावें, उणरो जाबक दलद्र कर दें दूर॥

४-अनुकम्पा ढाल ११ गा० १५
किणरें त्रिसणा लाय लागी घर भितर, ग्यांनादिक गुण बलें तिण मांय।
उपदेस देइ तिणरी लाय बुझावें, रूंम रूंम में साता दीधी वपराय॥

एक आदमी अपने माता-पिता की दिन रात सेवा करता है, उन्हें मन इच्छित भोजन कराता है—यह लौकिक उपकार है[1]।

एक आदमी अपने माता-पिता को ज्ञान, श्रद्धा और चारित्र की प्राप्ति हो वैसा यत्न करता है, उन्हें धार्मिक सहयोग देता है—यह लोकोत्तर उपकार है[2]।

कहा जाता है—लौकिक और आध्यात्मिक का भेद डालकर जीवन को विभक्त करना अच्छा नहीं है। इससे लौकिक कर्तव्य और धर्म के बीच खाई हो जाती है। आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण था कि इनके बीच खाई है। कुछ लोगों का कहना था कि लौकिक कर्तव्यों को धर्म से पृथक् मानने पर उनके प्रति उपेक्षा का भाव बढ़ता है और दायित्व को निभाने पर कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण यह था कि इन्हें एक मानने से मोक्ष के सिद्धान्त पर प्रहार होता है। जिस कार्य से संसार चले, बन्धन हो उसी से यदि मुक्ति मिले तो फिर बन्धन और मुक्ति को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है। बन्धन और मुक्ति यदि एक हों तो उनकी सामग्री भी एक हो सकती है। और यदि वे भिन्न हों तो उनकी सामग्री भी भिन्न होगी। रागद्वेष और मोह से संसार का प्रवाह चलता है तो उससे मुक्ति कैसे प्राप्त होगी? वीतराग भाव से मुक्ति प्राप्त होती है तो उससे संसार कैसे चलेगा? दोनों भिन्न दिशाएँ हैं। उन दोनों को एक बनाने का यत्न करने पर भी हम एक नहीं बना सकते। लौकिक दृष्टि से देखा जाय तो कर्तव्य का स्थान सर्वोपरि है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो सर्वोपरि स्थान है धर्म का। दोनों को एक दूसरे की दृष्टि से देखा जाय तो उलझन बढ़ती है। दोनों को अपनी-अपनी दृष्टि से देखा जाय तो अपने-अपने स्थान में दोनों का महत्त्व है। लौकिक दया के साथ अहिंसा की व्याप्ति नहीं है, इसलिये अहिंसा और दया भिन्न तत्त्व हैं। लोकोत्तर दया और अहिंसा की निश्चित व्याप्ति है। जहाँ दया है वहाँ अहिंसा है और अहिंसा है वहाँ दया है। इस दृष्टि से अहिंसा और दया एक तत्त्व है।

१-अनुम्पा ढाल ११ गा० १८

मात पितारी सेवा करें दिनरात, वलेमन मांन्यां भोजन त्यांने खवावें।
वले कावड़ कांधे लीयां फिरे त्यांरी, वले वेहुंरो सिनान करावें॥

२-अनुकम्पा ढाल ११ गा० १६

कोइ मात पितानें रुडी रीतें, भिन भिन करनें धर्म सुणावें।
ग्यांन दर्शन चारित त्यांनें पमावें, कांम भोग शब्दादिक सर्व छोड़ावें॥

: ७ : दया

कुछ सम्प्रदाय के साधुओं ने कहा—हम जीव बचाते हैं, भीखणजी नहीं बचाते। आचार्य भिक्षु ने कहा—जीव बचाने की बात रहने दो, उन्हें मारना तो छोड़ो। आपने कहा—एक पहरेदार था। उसने पहरा देना छोड़ दिया और चोरी करने लगा। उसने गांव के लोगों से कहा—मैं पहरा देता हूँ इसलिए मुझे पैसा दो। लोग बोले—पहरा देना दूर रहा, चोरी करना ही छोड़ दो[1]।

प्राणिमात्र के प्रति जो संयम है वह अहिंसा है। प्राणिमात्र के प्रति जो मैत्री-भाव है, उन्हें पीड़ित करने का प्रसंग आते ही हृदय में एक कम्पन हो जाता है, वह दया है। दया के बिना अहिंसा नहीं हो सकती और अहिंसा के बिना दया नहीं हो सकती। इन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। सर्व जीवों के प्राणातिपात से दूर रहना पहला महाव्रत है[2]। इसमें समूची दया समायी हुई है। किसी भी प्राणी को भयाकुल न करना यह अभयदान है। यह भी दया या अहिंसा का ही दूसरा नाम है[3]।

स्वयं न मारना, दूसरों से न मरवाना और मारने वाले को अच्छा न समझना—यह अभयदान है और यही दया है[4]। जिसे अभयदान की पहचान नहीं है, वह दया को नहीं पहचानता[5]।

१-दृष्टान्त-६५

२-अनुकम्पा ढाल ६ गा० ८

आहीज दया छें महावरत पहिलों, तिणमें दया दया सर्व आइ जी।
ते पूरी दया तो साध जी पालें, बाकी दया रही नहीं काइ जी॥

३-अनुकम्पा ढाल ६ गा० ४

त्रिविधे त्रिविधे छकाय जीवांनें, भय नहीं उपजावें तांमो जी।
ए अभय दांन कह्यो भगवंते, ते पिण दया रो नांमो जी॥

४-अनुकम्पा ढाल ६ दू० १-२

पोतें हणें हणावें नहीं, पर जीवां ना प्रांण।
हणें जिणनें भलों जांणें नहीं, ए नव कोटी पचखांण॥
ए अभय दांन दया कही, श्री जिण आगम मांय।
तो पिण ढूंध उठावीयों, ग्यांनी नांम धराय॥

५-अनुकम्पा ढाल ६० दू ३

अभय दान न ओलख्यों, दयारी खबर न कांय।
भोला लोकां आगलें, कूड़ा चोज लगाय॥

: ८ : दान

कुछ लोग आकर बोले, भीखणजी ! आपका अभिमत ही ऐसा है कि आपके श्रावक दान नहीं देते । आचार्यवर ने कहा—एक शहर में चार बजाज दुकान करते थे । उनमें से तीन बजाज बारात में गये, पीछे एक बजाज रहा। कपड़े के ग्राहक बहुत आए। कहिये, इससे बजाज राजी होगा या नाराज ? वे बोले—वह तो प्रसन्न ही होगा ।

आचार्यवर ने कहा—तुम कहते हो, भीखणजी के श्रावक दान नहीं देते, तो जितने याचक हैं वे सब तुम लोगों के पास ही आयेंगे । धर्म और पुण्य का लाभ सारा का सारा तुम्हीं को प्राप्त होगा—यह तुम लोगों के लिये खुशी की बात है । फिर तुम किसलिये कोसने आए हो कि भीखणजी के श्रावक दान नहीं देते[1] ?

दान भारतीय साहित्य का सुपरिचित शब्द है । इसके पीछे अनुग्रह का मनोभाव रहा है । एक समर्थ व्यक्ति दूसरे असमर्थ व्यक्ति को दान देता है, इसका अर्थ है, वह उस पर अनुग्रह करता है । दान की परम्परा में असंख्य परिवर्तन हुए हैं । प्रत्येक परिवर्तन के पीछे एक विशिष्ट मान्यता रही है। प्राचीन काल में राजाओं की ओर से दानशालाएँ चलती थीं । दुर्भिक्ष आदि में उनकी विशेष व्यवस्था की जाती थी । पाद-यात्रियों को भी आहार आदि का दान दिया जाता था । सार्वजनिक कार्यों के लिये दान देने की प्रथा सम्भवतः नहीं जैसी थी । उस समय दान, समाज-व्यवस्था का एक प्रधान अंग था। उससे पूर्वकाल में जाते हैं तो दान जैसा कोई तत्त्व था ही नहीं । न कोई देने वाला था और न कोई था लेनेवाला । भगवान ऋषभनाथ ने दीक्षा से पूर्व दान देना चाहा, पर कोई लेने वाला नहीं मिला ।

भगवान ऋषभनाथ श्रमण बने । एक वर्ष तक उन्हें कोई भिक्षा देनेवाला नहीं मिला, उसके पश्चात् श्रेयांस कुमार ने उन्हें इक्षुरस का दान दिया ।

साधुओं को दान देने का प्रवर्तन हुआ तब यह प्रश्न मोक्ष से जुड़ गया, धर्म का अंग बन गया । समाज में दीन-वर्ग की सृष्टि हुई तब दान करुणा से जुड़ गया ।

याचकों ने दान की गाथाएँ गाईं । दान सर्वोपरि तत्त्व बन गया । इससे अकर्मण्यता बढ़ने लगी, तब दान के लिये पात्र, अपात्र की सीमाएँ बनने लगीं । इससे दाताओं का गर्व बढ़ने लगा, तब दाता के स्वरूप की मीमांसा की जाने लगी ।

१-दृष्टान्त : १४६

मांगनेवालों का लोभ बढ़ गया तब देय की मीमांसा होने लगी। दान के कारणों का विशद विवेचन हुआ। भारतीय साहित्य के हजारों लाखों पृष्ठ इन मीमांसाओं से भरे हैं। आचार्य भिक्षु ने इस अध्याय में कुछ पृष्ट और जोड़ दिये। उन्होंने दान का मोक्ष और संसार की दृष्टि से विश्लेषण किया। उनका अभिमत है कि जो लोग समूचे दान को धर्म मानते हैं वे धर्म की शैली को नहीं जान पाए हैं। वे आक और गाय के दूध को एक मान रहे हैं[1]। मोक्ष का मार्ग संयम है। असंयमी को दान दिया जाय और उसे मोक्ष का मार्ग बताया जाय—यह विरोध है। दान को धर्म बताए बिना लोग नहीं देते इसीलिये सम्भव है दान को धर्म बताया जाता है[2]।

आचार्य भिक्षु की समूची दान मीमांसा का सार इन शब्दों में है कि संयमी को दिया जाय वह दान मोक्ष का मार्ग है और असंयमी को दिया जाय वह दान संसार का मार्ग है। संयमी को दान देने से संसार घटता है और असंयमी को दान देने से संसार बढ़ता है[3]।

दाता वही होता है जो संयमी या असंयमी सभी को दे[4]। वह पग-पग पर संयमी-असंयमी की परख करने नहीं बैठता। अपने व्यवहार में जिसे संयमी मानता है उसे मोक्ष मार्ग की बुद्धि से देता है और जिसे असंयमी मानता है उसे संसार-मार्ग की बुद्धि से देता है।

१-व्रताव्रत ढाल २ गा० १४
समचें दांन में धर्म कहें तो, नाइं जिण धर्म सेली रे।
आक नें गायरो दुध अग्यांनी, कर दीयो भेल सभेली रे॥

२-व्रताव्रत ढाल २ गा० १५
अविरत में दांन ले पेंलांरों, मोष रो मार्ग वतावें रे।
धर्म कह्यां विण लोक नहीं दे, जब कूर कपट चलावें रे॥

३-व्रताव्रत ढाल १६ गा० ५७
सुपातरनें दीयां संसार घटें छें कुपातर नें दीयां वधे संसार।
ए वीर वचन साचा कर जांणों, तिण में संका नहीं छें लिगार रे॥

४-व्रताव्रत ढाल १६ गा० ५०
पातर कुपातर हर कोइ नें देवें, तिणनें कहीजें दातार।
तिण में पातर दानसुगतरो पावडीयों, कुपातरसूं रुलें संसार रे॥

निश्चय दृष्टि का निर्णय, व्यवहार-दृष्टि से भिन्न भी हो सकता है। सम्भव है जिसे संयमी माना जाय वह वास्तव में असंयमी हो और जिसे असंयमी माना जाय, वह वास्तव में संयमी हो। यह व्यक्तिगत बात है। सिद्धान्त की भाषा में यही कहा जा सकता है कि संयमी को दान देना मोक्ष का मार्ग है और असंयमी को दान देना संसार का मार्ग है। संयमी और असंयमी की परिभाषा अपनी-अपनी हो सकती है। आचार्य भिक्षु की भाषा यह है कि जो पूर्ण अहिंसक हो वह संयमी है और जो मनसा, वाचा, कर्मणा, कृत, कारित और अनुमति से अहिंसा का पालन न करे वह असंयमी है।

असंयमी मोक्ष-दान का अधिकारी नहीं है। जिसके कुछ व्रत हो वह संयमासंयमी भी मोक्ष-दान का अधिकारी नहीं है। एक आदमी छह काय के जीवों को मारकर दूसरों को खिलाता है, यह हिंसा का मार्ग है[1]। जीवों को मारकर खिलाने में पुण्य बतलाते हैं, वे सिंह की भांति निर्भय होकर नाद नहीं करते। उन्हें पूछने पर वे मेमने की भांति कांपने लग जाते हैं[2]। जो जीवों को मारकर खिलाने में पुण्य बतलाते हैं, उनकी जीभ तलवार की तरह चलती है[3]।

एक दूसरे सम्प्रदाय का साधु आचार्य भिक्षु का व्याख्यान सुनने आया। वह व्याख्यान सुन बहुत प्रसन्न हुआ। वह बहुत बार आने लगा। एक दिन उसने आचार्य भिक्षु से कहा—आप अपने श्रावकों को कह दें कि मुझे रोटी खिलाए। भिक्षु बोले श्रावकों को कह कर तुम्हें रोटी खिलाएँ, चाहे हम अपनी रोटी तुम्हें दें इसमें क्या अन्तर है? तब उसने कहा—तो आप दान का निषेध

१-व्रताव्रत ढाल १७ गा० ९

कोइ छ काय जीवांरो गटको करावें, अथवा छ काय मारे नें खवावें।
ओ जीव हिंसानों राहज खोटों, तिण में एकंत धर्म नें पुन बतावें॥

२-व्रताव्रत ढाल १७ गा० ३६

जीव खवायां में पुन परूपें, ते सीह तणी परें करें न गूंजें।
परगट कहितां मूंडा दीसें, त्यांनें प्रश्न पूछ्यां गाडर जिम धूजें॥

३-व्रताव्रत ढाल १७ गा० २९

जीव खवायां में पुन परूपें, त्यां दुष्ट्यालें कहिजें निरखें अनारज।
त्यांरी जीभ कहेंतरवा जूं तीखी, त्यां विकलांरा किण विध सीझसी कारज॥

करते हैं ? आचार्य भिक्षु ने कहा—देनेवालों को मनाही करो चाहे किसीसे छीन लो इसमें क्या अन्तर है[1] ।

लोग कहते हैं—आचार्य भिक्षु ने दान का निषेध किया है। आचार्य भिक्षु का अभिमत है कि निषेध करने में और छीनने में कोई अन्तर नहीं है। उनकी वाणी है—दाता दे रहा हो, लेनेवाला ले रहा हो, उस समय साधु उसे रोके तो लेने वाले को अन्तराय होता है, इसलिये साधु वैसा नहीं कर सकता। साधु वर्तमान असंयमी दान की न तो प्रशंसा करे, और न उसका निषेध करे, किन्तु मौन रहे। धर्म-चर्चा के प्रसंग में दान के यथार्थ स्वरूप का विश्लेषण करे[2] ।

इस पर भी कुछ लोगों ने कहा—दान को धर्म न मानने का अर्थ ही उसका निषेध है। आचार्य भिक्षु ने इसका समाधान किया कि दान देने वाले को कोई कहे कि तू मत दे वह दान का निषेध करने वाला है। किन्तु दान जिस कोटि का हो उसी कोटि का बतलाया जाय वह निषेध नहीं है। वह ज्ञान की निर्मलता है। भगवान ने असंयमी को दान देने में धर्म नहीं कहा—इसका अर्थ यह नहीं कि भगवान् ने दान निषेध किया है। इसका अर्थ इतना ही है कि जिसका जो स्वरूप था वही बतला दिया।

किसी व्यक्ति ने साधु से कहा—तुम मेरे घर भिक्षा लेने मत आना। दूसरे व्यक्ति ने साधु को गालियाँ दीं। जिसने निषेध किया उसके घर साधु भिक्षा

१-दृष्टान्त-२४५

२-व्रताव्रत ढाल ३ गा० १७—२१

दातार दांन देवें तिण कालें, लेवाल लेवें घर पीतो रे।
जब साध कहें तूं मतदें इणनें, नपेधणों नहीं इण रीतो रे॥
जो दान देतां नें साध नपेदं तो, लेवाल रे पड़ें अंतरायो रे।
अन्तराय दीयां फल कडवा लागें, तिणसूं नपेध न करें इण न्यायो रे॥
अन्तराय सुं डरतो साधु न बोलें, और परमारथ मत जांणो रे।
ते पिण मुन छें वरतमान कालें, बुधवंत कीजों पिछांणो रे॥
उपदेस देवें साध तिण कालें, दूध पांणी ज्यूं करे नीवेरो रे।
विना बतायां च्यार तीर्थ में, किण विध मिटें अन्धेरो रे॥
दोनूं भाषा साधु नहीं बोलें, पुन छें अथवा पुन नांही रे।
ते वरज्यों वरतमान काल आसरी, थे सोच देखो मन मांही रे॥

लेने नहीं जाता। जिसने गालियाँ दी उसके घर भिक्षा लेने जाता है। कारण यह है कि निषेध करना और कठोर वचन बोलना एक भाषा में नहीं समाते। इसी प्रकार दान देने का निषेध करना और दान को अधर्म बतलाना भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं। इनका एक ही भाषा में समावेश नहीं होता[1]।

१-व्रताव्रत ढाल ३ गा० ३६—४३

दांन देतां नें कहे तूं मत दे इणनें, तिण पाल्यों नषेद्यों दांनो रे।
पाप हुंतो नें पाप बतायों, तिणरो छें निरमल ग्यांनो रे॥
असंजती नें दांन दीयां में, कहि दीयों भगवंत पापो रे।
त्यां दान नें वरज्यों नषेद्यों नांही, हुंती जिसी कीधीं थापो रे॥
किण ही साधुनें कह्यों आज पछें तूं म्हारें घर कदे मत आयो रे।
किण ही एक करला वचनज बोल्यों, हिवें साधू किसें घर जायों रे॥
साधांनें वरज्यो तिण घर में न पेसें, करला कह्या तिण घरमांहे जावें रे॥
निषेध्यों नें करला बोल्यां ते, दोनूं एकण भाषा में न समावे रे॥
ज्यूं कोइ दांन देतां वरज राखें, कोइ दीधां में पाप बतावें रे।
ए दोनूंई भाषा जुदी जुदी छें, ते पिण एकण भाषा में न समावें रे॥

अध्याय ५

क्षीर-नीर

जीभ की दवा आँख में डालने से और आँख की दवा जीभ के लगाने से आँख फूट जाती है और जीभ फट जाती है—दोनों इन्द्रियाँ नष्ट होती हैं। इसी प्रकार जो अधर्म के कार्य का धर्म में और धर्म के कार्य का अधर्म में समावेश करता है, वह दोनों प्रकार से अपने आपको बाँध लेता है[1]।

सम्यक् दृष्टिकोण

दया, दान और परोपकार ये तीन तत्त्व सामाजिक जीवन के आधार स्तम्भ रहे हैं। धर्म की आराधना में भी इनका स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। समाज की व्यवस्था बदलती रहती है। जिस समाज में उच्चता और नीचता निसर्ग-सिद्धि मानी जाती थी, उसमें दया, दान और परोपकार को विकसित होने का अवसर मिला। आज समाज-व्यवस्था बदल चुकी है। इसमें समान अधिकार का सिद्धान्त विकास पा रहा है। बड़ों और छोटों के वर्ग-भेद को इसमें स्थान नहीं है। जब बड़ों और छोटों का भेद मिटने लगता है तब दया, दान और परोपकार सिमटने लग जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने जब दया-दान का विश्लेषण किया, उस समय की समाज-व्यवस्था में उन्हें बहुत महत्त्व दिया जाता था। आज की व्यवस्था में 'समान अधिकार' देने का जो महत्त्व है, वह दया दिखाने का

१-व्रताव्रत ढ़ा० ४ गा० ४,५ :

जीभरो ओपद आंख्यां में घाल्यों, आंख्यांरो ओषद जीभमें घाल्योरे।
तिणरी आंखई फूटीनें जीभइ फाटी, दोनूंइ इंद्री खोय चाल्योरे॥
ज्यूं अधर्म रा कांमा धर्ममाहे घाल्या, धर्मरा कांमा अधर्ममें घाल्यारे।
दोनूंई विध कर्म बांधे अग्यांनी, दुरगत मांहे चाल्यारे॥

नहीं। जो महत्त्व सहयोग का है वह दान और परोपकार का नहीं है। समाज-व्यवस्था परिवर्तनशील है इसलिए परिवर्तन भी स्वाभाविक है। एक व्यवस्था में उसके अनुरूप तत्त्व विकसित होते हैं और दूसरी व्यवस्था में वे बदल जाते हैं। धर्म अपरिवर्तनशील है। उसमें दया, दान और परोपकार की मान्यता व्यवस्था से उत्पन्न नहीं है। वह संयम से जुड़ी हुई है। संयम का विकास हो वहीं दया हो सकती है, वहीं दान और वहीं परोपकार। जो वर्तमान के असंयम को सहारा दे वहाँ न दया है, न दान और न परोपकार। आचार्य भिक्षु ने कहा—यह लोकोत्तर भाषा है। लौकिक भाषा इससे भिन्न है और बहुत भिन्न है। उसके पास मानदण्ड है—भावों का आवेग या मानसिक कम्पन और लोकोत्तर भाषा संयम के मानदण्ड से माप कर बोलती है।

आचार्य भिक्षु के इस अभिमत के स्पष्टीकरण के बाद जो प्रश्न उपस्थित हुए उनमें सर्वाधिक प्रभावशाली प्रश्न सेवा का है। निःस्वार्थ भाव से सेवा करना क्या धर्म नहीं है? क्या हृदय की सहज स्फूर्त करुणा धर्म नहीं है? इसे अधर्म कहना भी तो बहुत बड़े साहस की बात है। जिस समाज में रहना और उसी की सेवा को धर्म न मानना बहुत ही विचित्र बात है। पर हममें से बहुत लोगों ने समाचार पत्रों में बहुत बार यह शीर्षक पढ़ा होगा—"यह सच है, आप मानें या न मानें"। बहुत सारी बातें ऐसी होती हैं जिनपर सहसा विश्वास नहीं होता, पर वास्तव में वे सच होती हैं और कुछ बातें ऐसी होती हैं जो वस्तुतः सच नहीं होतीं, परन्तु उनपर सहसा विश्वास हो जाता है। समाज-सेवा में धर्म नहीं, यह सुनते ही आदमी चौंक उठता है। किसी भी वस्तु के स्थूल दर्शन के साथ सच्चाई का लगाव इतना नहीं होता जितना कि संस्कारों का होता है।

जो लोग सेवा मात्र को धर्म मानते थे, उनको लक्षित कर महात्मा गाँधी ने कहा—जो मनुष्य बन्दूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है दोनों में अहिंसाकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता। जो आदमी डाकुओं की टोली में उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता हो तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करने का काम करता है वह उस डकैती के लिये उतना ही जिम्मेवार है जितना कि वह खुद डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध में घायलों की सेवा करता है वह युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता[१]।

अहिंसा की दृष्टि से शस्त्र धारण कर मारने वालों में और निःशस्त्र रहकर घायलों की सेवा करनेवालों में कोई फर्क नहीं देखता हूँ। दोनों ही लड़ाई में

१-आत्मकथा भा० ४

शामिल होते हैं और उसीका काम करते हैं, दोनों ही लड़ाई के दोष के दोषी हैं।[1]

गाँधीजी ने युद्ध के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए, वे ही विचार आचार्य भिक्षु ने जीवन-युद्ध के बारे में व्यक्त किये। सामाजिक क्रान्ति की दृष्टि से जहाँ मनुष्यों को दूसरे मनुष्यों को मारने की खुली छूट होती है वह युद्ध है। मोक्ष की दृष्टि से जहाँ एक जीव में दूसरे जीवों को मारने की भावना या वृत्ति होती है वह युद्ध है। अर्थात् जीवन ही युद्ध है। युद्ध में लगे जीवों की सहायता करनेवाला युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता—यह महात्मा गाँधी की वाणी है। आचार्य भिक्षु की वाणी है—असंयममय जीवन-युद्ध में संलग्न जीवों की सहायता करनेवाला असंयममय जीवन-युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता। पहली बात सूक्ष्म है और दूसरी सूक्ष्मतर। इसलिए इनपर सहसा विश्वास नहीं होता, पर इनकी सच्चाई में सन्देह नहीं किया जा सकता।

आचार्य भिक्षु ने कहा—कोई व्यापारी घी और तम्बाकू दोनों का व्यापार करता था। एक दिन वह किसी कार्यवश दूसरे गाँव गया। उसका पुत्र दुकान में बैठा। उसने देखा कि एक बर्तन में घी पड़ा है और एक में तम्बाकू। दोनों आधे आधे थे। उसने सोचा—पिताजी कितने कमसमझ हैं, बिना मतलब दो पात्र रोक रखे हैं। उसने घी का पात्र उठाया और तम्बाकू में उड़ेल दिया। उन्हें मलकर राब सी बना ली। ग्राहक आया तम्बाकू लेने। उसने वह राब दी, ग्राहक बिना लिए लौट गया। दूसरा ग्राहक आया घी लेने। वही राब उसके सामने आई। वह भी खाली लौट गया। जितने भी ग्राहक आए वे सारे के सारे रीते हाथ लौट गए। वह पात्र खाली न हो तबतक दूसरा पात्र निकालने की पिताजी मनाही कर गए थे और यह कोई लेते नहीं। उसे समूचे दिन इस समस्या का सामना करना पड़ा[2]।

उस व्यक्ति को भी इसी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ता है, जो आध्यात्मिक और लौकिक कार्यों का मिश्रण करता है।

आचार्य भिक्षु के अभिमत में "मिश्रण" अनुचित है। इसका विरोधी विचार समाज-सेवियों का है। उनके अभिमत में सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक पहलुओं को अलग-अलग मानना अनुचित है। इन दिनों हम

१-हिन्दी नवजीवन २० सितम्बर १९२८

२ व्रताव्रत ढा० ४ गा० १ :

जिम कोइ घृत तंबाखू विणजें, पिण बासण विगत न पाडें रे।
घृत लेई तंबाखू में घालें, ते दोनूंई वसत विगाडें रे॥

लोगों में जीवन के टुकड़े करने की आदत पड़ गई है। सामाजिक पहलू अलग, नैतिक पहलू अलग, आध्यात्मिक पहलू अलग—इस तरह अलग-अलग पहलू बनाए गये हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि सामाजिक क्षेत्र में काम करने वाले नीति-विचार के बारे में सोचते नहीं, नीति का काम करने वाले समाज के मसले हाथ में नहीं लेते और अध्यात्मवादी दोनों की तरफ ध्यान नहीं देते। इस तरह टुकड़े करके हम ने जीवन को छिन्न-विच्छिन्न कर दिया है[1]।

ये दोनों विचार परस्पर विरोधी हैं। एक की दिशा है कि सामाजिक और आध्यात्मिक कार्यों का मिश्रण मत करो; दूसरे की दिशा है कि इन्हें बाँट कर जीवन के टुकड़े मत करो। इन दोनों दिशाओं में से प्रश्न उठते हैं—क्या जीवन विभक्त ही है? क्या जीवन अविभक्त ही है? एकान्त की भाषा में इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। और यदि दिया जाय तो वह सच नहीं होगा। इसका यथार्थ उत्तर होगा कि वह विभक्त भी है और अविभक्त भी। वह विभक्त इसलिए है कि वे सारी प्रवृत्तियाँ एक ही जीवन में होती हैं। विभाजन प्रवृत्तियों का होता है उनके आधार का नहीं। एकता आधार में होती है। उनकी प्रवृत्तियों में नहीं। दोनों के समन्वय की भाषा यह होगी कि आधार होने के नाते जीवन एक है, अविभक्त है। और उसमें अनेक कार्य होते हैं, इस दृष्टि से वह अनेक है, विभक्त है। भगवान् महावीर ने तीन पक्ष बतलाए—अधर्म पक्ष, धर्म पक्ष और मिश्र पक्ष[2]। हिंसा और परिग्रह से जो किसी प्रकार निवृत्त नहीं हैं वे अधर्म पक्ष में समाते हैं, उनसे जो सर्वथा निवृत्त हैं वे धर्म पक्ष में हैं। और जो लोग किसी सीमा तक उनसे निवृत्त भी हैं और शेष सीमा में निवृत्त नहीं भी हैं, वे मिश्र पक्ष के अधिकारी हैं। मिश्र पक्ष में अहिंसा और हिंसा दोनों हैं। अनावश्यक हिंसा का जितना संवरण किया है, वह जीव का अहिंसा पक्ष है। और जीवन में आवश्यक हिंसा का जितना प्रयोग है वह उसका हिंसा पक्ष है। ये दोनों जीवन में मिश्रित हैं क्योंकि इनका आधार एक ही जीवन है। पर ये दोनों मिश्रित नहीं हैं क्योंकि इनका स्वरूप सर्वथा भिन्न है।

जीवन में सारी प्रवृत्तियां अहिंसक ही होती हैं—ऐसा कौन कहेगा? और सारी प्रवृत्तियां हिंसक ही होती हैं ऐसा भी कौन कहेगा? अहिंसक और हिंसक दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं, उन्हें एक कोटि की कौन

१-विनोबा प्रवचन पृ० ४४० (मंगलवार, २६ मई १९५९)
२-सूत्रकृताङ्ग २-१

कहेगा ? आचार्य भिक्षु ने जीवन-विभाजन की जो रेखा खींची वह यही है। व्यापारी व्यापार करते समय आध्यात्मिक-भावना को भूल जाय, चाहे जितना क्रूर व्यवहार करे, धर्मस्थान में वह धार्मिक और कर्मस्थान में निर्दय हो, यह आशय उस विभाजन की रेखा का नहीं है[1]। उसका आशय है—व्यापार और दयाभाव एक नहीं हैं। दया भाव धर्म है और व्यापार सांसारिक कर्म। दोनों को एक मानने का अर्थ होता है, धर्म और सांसारिक कर्म का मिश्रण। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार वर्ग हैं। इनमें दो साध्य हैं और दो साधन। मोक्ष साध्य है, धर्म उसका साधन। काम साध्य है, अर्थ उसका साधन। आर्थिक विकास और काम का आसेवन जीवन का एक पहलू है। और दूसरा पहलू है—धार्मिक विकास और मुक्ति की उपलब्धि। ये चारों एक ही जीवन में होते हैं पर ये सब स्वरूप-दृष्टि से एक नहीं हैं। आचार्य भिक्षु ने जीवन के टुकड़े नहीं किए, उन्होंने जीवन की प्रवृत्तियों के मिश्रण से होने वाली क्षति से लोगों को सावधान किया। उनकी वाणी है—'सावद्य-दान' संसार-संवर्धन का हेतु है, और 'निरवद्य दान' संसार-मुक्ति का हेतु है। संसार और मोक्ष के मार्ग भिन्न हैं। वे समानान्तर रेखा की तरह एक साथ रहते हुए भी कहीं भी नहीं मिलते[2]।

उनकी वाणी है—जो सांसारिक उपकार करता है उसके संसार बढ़ता है,

१-विनोबा प्रवचन पृष्ठ ४४० (मंगलवार, २६ मई १६५६)

व्यापारी इधर भगवान की भक्ति करता है, पूजा-पाठ करता है और उधर व्यवहार में झूठ चलाता है। इस तरह वह तीर्थ-यात्रा, ध्यान, जप-जाप आदि करेगा, लेकिन सत्य व्यापार के खिलाफ है, ऐसा अवश्य कहेगा। व्यापार अलग और सत्य, प्रेम, दया अलग। व्यापारी दुखियों के वास्ते दान देगा, लेकिन व्यापार में दया नहीं रखेगा। यह नहीं सोचेगा कि व्यापार में भी दया पड़ी है। हम गलत ढंग से व्यापार करते हैं, तो समाज को दुःख पहुँचता है। इस तरह हम ने व्यवहार को नीति से अगल रखा और नीति को अध्यात्म से अलग रखा।

२-व्रताव्रत ढा० ३ गा० ३ :

ते सावद्य दांन संसार ना कारण, तिण में निरवद रो नहीं भेलो रे।
संसार ने मुगतरा मारग न्यारा, ते कठें न खावें मेलो रे॥

और जो मोक्ष के अनुकूल उपकार करता है उसके मोक्ष निकट होता है[1]।

कोई गृहस्थ किसी गरीब को धन देकर सुखी बनाता है, यह सांसारिक उपकार है, वीतराग उसकी प्रशंसा नहीं करते[2]।

उनकी वाणी है—एक लौकिक दया है। उसके अनेक प्रकार हैं[3]। एक कूवा जल से भरा है, कोई उसमें गिर रहा था, उसे बचा लिया। कहीं लाय—आग लगी, कोई उसमें जल रहा था, उसे बचा लिया। यह दया है, उपकार है, पर है सांसारिक।

एक व्यक्ति पाप का आचरण कर रहा हो, उसे कोई समझाए, उसका हृदय बदल दे, वह जन्म-मरण के कूएँ में गिरने से बचाता है, यह दया है, उपकार है, पर है आध्यात्मिक[4]।

सामाजिक प्राणी-समाज में रहता है। समाज रूपी धमनियाँ उसमें रक्त का संचार करती हैं इसलिए वह सांसारिक उपकार करता है।

आत्मवादी का सर्वोपरि ध्येय मोक्ष होता है। उसकी साधना करना व्यक्ति का सहज धर्म है। इसलिए वह आध्यात्मिक उपकार करता है।

१-अणुकम्पा ढा० ११ गा० ३ :
संसार तणों उपगार करें छें, तिणरें निश्चेंइ संसार वधतो जाणों।
मोक्ष तणों उपगार करें छें, तिणरे निश्चेंइ नेंडी दीसे निरवाणों॥

२-अणुकम्पा ढाल ११ गा० ४, ५ :
कोई दलदरी जीव नें धनवंत कर दें, नव जात रों परिग्रहो देइ भरपूर।
वले विविध प्रकारें साता उपजावें, उणरो जावक दलद्र कर दें दूर॥
छ कायरा ससत्र जीव इविरती, त्यांरी साता पूछी ने साता उपजावें।
त्यांरी करें वीयावच विविध प्रकारें, तिणनें तीर्थंकरदेव तों नहीं सरावें॥

३-अणुकम्पा ढा० ८ दू० ५ :
एक नांम दया लोकीक री, तिणरा भेद अनेक।
तिण में भेपधारी भूला घणा, ते सुणजों आण ववेक॥

४-अणुकम्पा ढाल ८ दू० १-३ :
दया २ सहू को कहें, ते दया धर्म छें ठीक।
दया ओलखने पालसी, त्यांनें मुगत नजीक॥
आ दया तो पहिलो व्रत छें, साध श्रावक नों धर्म।
पाप रुकें तिणसुं आवता, नवा न लागें कर्म॥
छ काय हणें हणावें नहीं, हणीयां भलो न जाणें ताय।
मन वचन काया करी, आ दया कही जिण राय॥

जो मिथ्या दृष्टि होता है, वह इन दोनों को एक मानता है और सम्यक्‌दृष्टि इन्हें भिन्न-भिन्न मानता है।

आम और धतूरे के फल सरीखे नहीं होते। किसी के बाग में ये दोनों प्रकार के वृक्ष हों, वह आम की इच्छा से धतूरे को सींचे तो उसका परिणाम क्या होगा? आम का वृक्ष सूखेगा और धतूरे का पौधा फलेगा। ठीक इसी प्रकार गृहस्थ के जीवन में व्रत रूपी आम का वृक्ष और अव्रत रूपी धतूरे का पौधा होता है। जो व्यक्ति व्रतों पर दृष्टि दे उसके अव्रत को सींचेगा, उसे आम की जगह धतूरे का फल मिलेगा[1]।

अमरीकी वायु सेना के चीफ ऑफ स्टाफ जनरल थामस ह्वाइट सीनेट वैदेशिक सम्बन्ध समिति की एक बैठक में ६ मई को गवाही दे रहे थे, उसके कुछ प्रसंग इस प्रकार हैं—

सीनेटर गोर : मैं पाकिस्तान को इतनी ज्यादा बड़ी रकम सैनिक सहायता के रूप में देने का समर्थन करना कठिन पाता हूँ....।

श्री मैक एल राय : यह रक्षा-व्यवस्था निःसन्देह भारत के विरुद्ध नहीं बल्कि उसे रूस और चीन के विरुद्ध दी गई है।

सीनेटर गोर : अच्छा आपका यह उद्देश्य हो सकता है, किन्तु हमारा जो अफसर उस कार्यक्रम का इंचार्ज है, वह कहता है कि पाकिस्तानी सैनिक अस्त्रशस्त्र सहायता भारत के विरुद्ध चाहते हैं।

१-व्रताव्रत ढाल ५ गा० ५-११

हिवे सुणजो चुतर सुजांण, श्रावक रत्नां री खांण।
व्रतां कर जांणजों ए, उलटी मत तांणजो ए॥
केइ रूंख बाग में होय, आंब धतूरा दोय।
फल नहीं सारिखा ए, करज्यो परिखा ए॥
आंबा सु लिव लाय, सींचे धतूरो आय।
आसा मन अति घणी ए, अंब लेवा तणी ए॥
पिण अंब गयो कुमलाय, धतूरो रह्यो डहिडाय।
आम नें जोवें जरें ए, नैंणा नीर जरहरें ए॥
इण दृिष्टंते जांण, श्रावक व्रत अंब समांण।
अविरत अलगी रही ए, धतूरा सम कही ए॥
सेवारें इविरत कोय, व्रतां सामो जोय।
ते भूला भर्म में ए, हिंसा धर्म में ए॥
इव्रत सूं वंधें कर्म, तिण में नहीं निश्चें धर्म।
तीन करण सारिखा ए, ते विरलां परिखा ए॥

श्री मैक एल राय : हम उनसे सहमत नहीं।

सीनेटर : किन्तु फिर भी आप उन्हें यह सहायता देते हैं और इसका उपयोग तो वे ही करेंगे आप नहीं...। दूसरे शब्दों में हम उन्हें सहायता एक उद्देश्य से देते हैं और वे उसे लेते हैं दूसरे उद्देश्य से...।

जनरल ह्वाइट : मैं नहीं समझता कि ऐसा कहना न्याय-संगत है। निःसन्देह पाकिस्तानियों के ख्याल भारतीयों की तरफ से बिगड़े हुए हैं किन्तु रूस के विरुद्ध भी उनके ऐसे ही भाव हैं...।

सीनेटर चर्च : हम पाकिस्तान को रूसी आक्रमण के विरुद्ध सहायता दे रहे हैं, किन्तु पाकिस्तानी भावना है कि खतरा मुख्यतः हिन्दुस्तान की ओर से है। मैं बहुत गम्भीरता से पूछता हूँ कि क्या एक मित्र देश को, दूसरे के विरुद्ध शस्त्र सज्जित करने में अमरीकी रुपये खर्च करना उचित है[1] !

यह संवाद आचार्य भिक्षु के उस उदाहरण की याद दिलाता है, जिसका प्रयोग उन्होंने, असंयम पूर्ण सहयोग की स्थिति को समझाने के लिए किया था :

एक राजा ने दस चोरों को मारने का आदेश दिया। एक दयालु सेठ ने राजा से निवेदन किया कि आप चोरों को प्राण-दान दें तो मैं प्रत्येक चोर के लिए पांचसौ-पांचसौ रुपये दे दूँ। राजा ने कहा—ये चोर बहुत दुष्ट हैं, छोड़ने योग्य नहीं है। सेठ ने कहा—सबको नहीं तो कुछेक को प्राणदान दें। सेठ का आग्रह देख राजा ने पांच सौ रुपये ले एक चोर को छोड़ा। नगर के लोग सेठ की प्रशंसा करने लगे। उसके परोपकार को बखानने लगे। चोर भी बहुत प्रसन्न हुआ। चोर अपने गाँव गया। नौ चोरों के घरवालों को सारे समाचार सुनाए। वे बहुत कुपित हुए। वे उस चोर को साथ ले नगर में आए। दरवाजे पर एक चिट्ठी चिपका दी। उसमें निन्नानवे नागरिकों को मारकर सौ का बदला लेने की बात लिखी हुई थी। और चोर को बचाने वाले साहूकार को छूट दी गई थी। अब नगर में चोरों का आतंक फैला। हत्याओं पर हत्याएँ होने लगीं। किसीका बेटा मारा गया, किसी का बाप। किसी की मां और किसी की पत्नी। नगर में कोलाहल मचा। लोग उस साहूकार की निन्दा करने लगे, उसे कोसने लगे। सेठ के पास धन अधिक था तो उसे कूएँ में क्यों नहीं डाल दिया ? चोर को सहायता दे, हमारे प्रियजनों की हत्याएँ क्यों करवाईं ? उस साहूकार की दशा दयनीय हो गई। उसे अपने बचाव के लिये नगर छोड़ दूसरी जगह जाना पड़ा[2]।

सेठ ने चोर को प्राणदान दिया और अमरीका पाकिस्तान को सुरक्षा का

१-हिन्दुस्तान २३ जून १९५९

२-दृष्टान्त : १४०

साधन दे रहा है। अमरीका रूस और चीन के विरुद्ध पाकिस्तान को सैनिक सहायता दे रहा है। सेठ ने उन निन्नानवें व्यक्तियों के विरुद्ध, जो चोरों द्वारा मारे गए, उस चोर की सहायता की। असंयमी प्राणी कभी भी किसी भी प्राणी को मार सकता है, उसे सहायता देना सब जीवों के विरुद्ध है। इसी दृष्टि से आचार्य भिक्षु ने कहा—मैं असंयमी जीवों को सांसारिक सहयोग देनेका समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाता हूँ। यहाँ तर्क हो सकता है कि सेठ ने निन्नानवे व्यक्तियों के विरुद्ध चोर की सहायता नहीं की, केवल चोर को जीवित रखने के लिए प्रयत्न किया। इसी तर्क का अंश इस संवाद में मिलता है कि अमरीका भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को सहयोग नहीं दे रहा है। चोर निन्नानवें व्यक्तियों की हत्या कर सकता है, पाकिस्तान उस सैनिक सहायता का प्रयोग भारत के विरुद्ध भी कर सकता है।

जिस प्रकार इन सहयोगों से हत्या और आक्रमण की कड़ी जुड़ी हुई है उसी प्रकार असंयमी को सहयोग देने के साथ भी सूक्ष्म हिंसा का मनोभाव जुड़ा हुआ है। इसलिए परिणाम की दृष्टि से चोर का सहयोग करने के कार्य को महत्त्व नहीं दिया जा सकता। जिस प्रकार राजनीतिक दूरदर्शिता की दृष्टि से सैनिक-सहयोग का समर्थन नहीं किया जा सकता उसी प्रकार आत्मिक दृष्टि से असंयमी को दिए जानेवाले सांसारिक सहयोग को धार्मिक उच्चता नहीं दी जा सकती।

तर्क की पद्धति एक होती है उसके क्षेत्र भले ही भिन्न हों। राजनीति के क्षेत्र में एक दूसरे देश के विरुद्ध शस्त्र-सज्जित करना यदि चिन्तनीय हो सकता है तो आत्मिक क्षेत्र में एक जीव को दूसरे जीवों के विरुद्ध शस्त्र-सज्जित करना क्या चिन्तनीय नहीं होता? भगवान् ने कहा—असंयम शस्त्र है[1]। एक जीव दूसरे जीवों की हिंसा इसलिए करता है कि वह असंयमी है। संयमी अपने खानपान के लिए भी किसी जीव की हिंसा नहीं करता। वह मधुकरी वृत्ति के द्वारा सहज प्राप्त भिक्षा से ही अपना जीवन चलाता है। असंयमी को भिक्षा लेने का अधिकार नहीं। वह अपने को एक सीमा तक ही संयत कर सकता है।

यदि हम सैनिक सहयोग पर केवल सामरिक दृष्टि से विचार करते हैं तो उन अमरीकी अधिकारियों की दृष्टि में पाकिस्तान को जो सहयोग दिया जा रहा है, वह उचित है, किन्तु उस पर नैतिक दृष्टि से विचार करने वाले और

१-स्थानाङ्ग १०।१।७४३ :

दस विधे सत्थे पं० तं० सत्थमग्गी, विसं,
लोणं, सिणेहो, खार, मंबिलं, दुप्पउत्तो
मणो, वाया, काया, भावो त अविरती

चर्च सीनेटर गोरे की दृष्टि में वह उचित नहीं है। उसे उचित मानने के पीछे भी एक दृष्टिकोण है, और अनुचित मानने के पहले भी एक दृष्टिकोण। उचित मानने का दृष्टिकोण स्वार्थपूर्ण है और अनुचित मानने का दृष्टिकोण वस्तुस्थिति से सम्बन्धित है। आचार्य भिक्षु ने कहा—मैं असंयमी को सांसारिक सहयोग देने का समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाता हूँ। इसमें आध्यात्मिक तथ्यों का विश्लेषण है। केवल सामाजिक स्वार्थ की दृष्टि से सोचने वाले, सम्भव है, इस विशुद्ध आध्यात्मिक विचार से सहमत न भी हो सकें।

अहिंसा का ध्येय

कोई आदमी नीम आम आदि वृक्षों को न काटने का व्रत लेता है, वृक्ष सुरक्षित रहते हैं; कोई आदमी तालाब, सर आदि न सुखाने का नियम करता है, तालाब जल से परिपूर्ण रहता है; कोई आदमी मिठाई न खाने का व्रत करता है, मिठाई बचती है; कोई आदमी दव-आग लगाने और गाँव जलाने का त्याग करता है, गाँव और जंगल की सुरक्षा होती है; कोई आदमी चोरी करने का त्याग करता है, दूसरों के धन की रक्षा होती है।

वृक्ष आदि सुरक्षित रहते हैं, वह अहिंसा का परिणाम है, उद्देश्य नहीं[1]।

जीव-रक्षा अहिंसा का परिणाम हो सकता है, होता ही है, ऐसी बात नहीं। पर उसका प्रयोजन नहीं है। नदी के जल से भूमि उपजाऊ हो सकती है। पर नदी इस उद्देश्य से बहती है यह नहीं कहा जा सकता।

अहिंसा का उद्देश्य क्या है? आत्म-शुद्धि या जीव-रक्षा? इस प्रश्न पर सब एक मत नहीं हैं। कई विचारक अहिंसा के आचरण का उद्देश्य जीव-रक्षा बतलाते हैं और कई आत्मशुद्धि। ऐसा भी हो सकता है कि जीव-रक्षा होती है और आत्मशुद्धि नहीं होती—संयम नहीं होता। और ऐसा भी होता है कि आत्मशुद्धि होती है, संयम होता है, जीव-रक्षा नहीं होती। अहिंसा जीव-

---

१-अणुकम्पा ढाल ५ गा० १२-१५

नीब आंबादिक विरष नों, किण ही कीधो हो बाढण रो नेम।
इविरत घटी तिण जीव नीं, विरष उभो हो तिण रो धर्म केम॥
सर द्रह तलाव फोडण तणों, सुंस लेई हो मेट्या आवता कर्म।
सर द्रह तलाव भरया रहें, तिण मांहि हो नहीं जिणजी रो धर्म॥
लाडू घेवर आदि पकवांन नें, खाणा छोड्या हो आत्म आंणी तिण ठाय।
वेराग वध्यों तिण जीव रें, लाडू रह्या हो तिण रो धर्म न थाय॥
दव देवो नें गांम जलायवों, इत्यादिक हो सावद्य कार्य अनेक।
ए सर्व छोडावें समझायनें, सगलांरी हो विध जांणो तुमे एक॥

रक्षा के लिए हो तो आत्मशुद्धि या संयम की बात गौण हो जाती है। और यदि वह आत्मशुद्धि के लिए हो तो जीव-रक्षा की बात गौण हो जाती है। आचार्य भिक्षु ने कहा—अहिंसा में जीव-रक्षा की बात गौण है, मुख्य बात आत्म-शुद्धि की है। एक संयमी सावधानी पूर्वक चल रहा है। उसके पैर से कोई जीव मर गया तो भी वह हिंसा का भागी नहीं होता, उसके पाप कर्म का बन्धन नहीं होता[1]। एक संयमी असावधानी पूर्वक चल रहा है। उसके द्वारा किसी भी जीव का घात नहीं हुआ, फिर भी वह हिंसक है, उसके पाप कर्म का बन्धन होता है[2]।

जहाँ जीवों का घात हुआ, वहाँ पाप का बन्धन नहीं हुआ और जहाँ जीवों का घात नहीं हुआ वहाँ पाप का बन्धन हुआ, यह आश्चर्य की बात है। परन्तु भगवान की वाणी का यही रहस्य है[3]।

संयमी मुनि नदी को पार करते हैं। उसमें जीव-घात होता है। उस कार्य में हिंसा का दोष होता तो भगवान उसकी अनुमति नहीं देते। जहां भगवान की अनुमति है वहां हिंसा का दोष नहीं है। जहां आत्मा का प्रयोग प्रशस्त होता है, हिंसा का दोष नहीं होता, वहीं भगवान की अनुमति होती है[4]।

१-जिन आज्ञा चौढालीयो ढाल १ गा० ३० :

इरज्या सुमत चालता साधु सूं, कदा जीव तणी हुवें घात।
ते जीव मुवां रो पाप साधु नें, लागें नहीं अंस मात रे॥

२-जि० आ० ढाल १ गा० ३१ :

ज्यो इरज्या सुमत विण साधु चालें, कदा जीव मरें नहीं कोय।
तो पिण साधु नें हंस्या छ कायरी लागे, कर्म तणों बन्ध होय रे॥

३-जि० आ० ढाल १ गा० ३२ :

जीव मुंवा तिहा पाप न लागों, न मुंवा तिहा लागो पाप।
जिण आगम संभालों जिण आगन्याजोवों, जिण आग्यामेंपापम थायोरे॥

४-जि० आ० ढा० १ गा० १८-२० :

साधू नदी उतरयां माहें दोष हुवें तो, जिण आगन्या दें नांही।
जिण आगन्या देवें त्यां पाप नहीं छे, ते सोच देपों मन मांहो रे॥
नदी उतरें त्यांरों ध्यांन किसों छें, किसी लेस्या किसा परिणांम।
जोग किसा अभाय किसा छें, भला भूंडा पिछांणो तांम रे॥
ए पांचु भलां छें तों जिण आगन्या छें, माठां में जिण आगन्या न कोय।
पांचुं माठां सूं तो पाप लागे छें, पांचुं भलांसु पाप न होय रे॥

देह के रहते हुए जीव-घात से नही बचा जा सकता किन्तु अहिंसा की पूर्णता आ सकती है। वीतराग या सर्वज्ञ के द्वारा भी जीव-घात हो जाता है। पर उनका संयम अपूर्ण नहीं होता, उनकी अहिंसा अधूरी नहीं होती। अवीत-राग-संयमी के भी पूर्ण अहिंसा की साधना होती है। हिंसा और अहिंसा का मूल स्रोत, आत्मा की असत् और सत् प्रवृत्ति है। जीव-घात या जीव-रक्षा उनकी कसौटी नहीं है। यह व्यवहारिक दृष्टि है। जहाँ प्रवृत्ति असत् होती है और जीव-घात भी होता है वहां व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से हिंसा होती है। जहाँ प्रवृत्ति सत् होती है और जीव-घात भी नहीं होता वहां व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से अहिंसा होती है। प्रवृत्ति सत् होती है और जीव-घात हो जाता है वहाँ निश्चय दृष्टि से अहिंसा और व्यवहार दृष्टि से हिंसा होती है। प्रवृत्ति असत् होती है और जीव-घात नहीं होता, वहाँ निश्चय दृष्टि से हिंसा और व्यवहार दृष्टि से अहिंसा। जैसे व्यवहार दृष्टि की अहिंसा से धर्म नहीं होता वैसे ही व्यवहार दृष्टि की हिंसा से पाप नहीं होता। जैसे जीव-घात होने पर भी व्यवहारिक हिंसा बन्धनकारक नहीं होती वैसे ही जीव-रक्षा होने पर भी व्यवहारिक अहिंसा मुक्ति कारक नहीं होती।

कई लोग इसीलिए सिंह आदि हिंस्र जीवों को मारने में धर्म मानते हैं, कि एक को मारने से अनेकों की रक्षा होती है। दूसरी बात, जो जीव-रक्षा को अहिंसा का उद्देश्य बतलाते हैं उन्हें पग-पग पर रुकना पड़ता है। जीव-रक्षा के लिए जीवों को मारने का भी प्रसंग आ जाता है। अहिंसा का ध्येय जीव-रक्षा हो तो साधन शुद्धि का विचार सुरक्षित नहीं रहता। आत्म-शुद्धि का साधन शुद्ध ही होता है। जीव-रक्षा को अहिंसा का ध्येय माननेवालों की कठिनाई का आचार्य भिक्षु ने इन शब्दों में चित्र खींचा है—"कभी तो वे जीवों की रक्षा में पुण्य कहते हैं और कभी वे जीवों की घात में पुण्य कहते हैं, यह बड़ा विचित्र मत है"[1]। चोर चोरी की वस्तु को छुक, छिप कर बेचता है, वह प्रगट रूप में नहीं बेच सकता। उसी प्रकार एक जीव की रक्षा के लिए दूसरे जीवों की घात करने में पुण्य मानते हैं, वे इस मत को प्रगट करते हुए सकुचाते हैं[2]। जो जीवों की रक्षा को अहिंसा का ध्येय मानते हैं उन्हें बड़े जीवों की

१-व्रताव्रत ढा० १७ गा० ३८ :
कदे तों पुन कहें जीव खवायां, कदे कहें जीव बचायां पुन।
यां दोयांरो निरणों न कीयों विकला, यूंही बकें गेहला ज्यूं हीया सून ॥
२-व्रताव्रत ढा० : १७ गा० ३९ :
चोर चोरी री वस्त छांनें २ बेचे, चोडे धाडें तिण सूं वेचणी नावें।
ज्यूं जीव खवायां पुन कहें त्यां सू, चोडें लोका म बतावणी नावें ॥

रक्षा के लिये छोटे जीवों की घात में पुण्य मानना ही पड़ता है और वे मानते भी हैं। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने जीव-रक्षा को अहिंसा का ध्येय नहीं माना।

जर्मन विद्वान अलबर्ट स्वीजर भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भगवान् महावीर के अनुसार अहिंसा संयम की उपज है। संयम या आत्मिक पवित्रता से सम्बन्धित होने के कारण ही वह पवित्र है। अहिंसा का सिद्धान्त जहां करुणा या जीव रक्षासे जुड़ जाता है वहां अहिंसा लोक प्रिय बनती है पर पवित्र नहीं रह सकती। आत्म-शुद्धि का मतलब है, असंयम से बचना। असंयम से बचने और अहिंसा को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। जहां असंयम से बचाव है वहां अहिंसा है। और जहाँ अहिंसा है वहां असंयम से बचाव है। किन्तु जीव-रक्षा का अहिंसा के साथ ऐसा सम्बन्ध नहीं है। अहिंसा में जीव-रक्षा हो सकती है पर उसकी अनिवार्यता नहीं है। आचार्य भिक्षु ने इस दृष्टिकोण को तीन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया।

१—एक सेठ की दुकान में साधु ठहरे हुए थे। करीब रात के १२ बज रहे थे। गहरा सन्नाटा था। निःस्तब्ध वातावरण में चारों ओर मूक शान्ति थी। चोर आए, सेठ की दुकान में घुसे। ताला तोड़ा। धन की थैलियाँ ले, मुड़ने लगे। इतने में उनकी निःस्तब्धता भंग करने वाली आवाज आई—भाई! तुम कौन हो? उनको बहुत कहने या करने का मौका ही नहीं मिला कि तीन साधु सामने आ खड़े हो गए। चोरों ने देखा कि साधु हैं, उनका भय मिट गया और उत्तर में बोले—महाराज! हम हैं। उन्हें यह विश्वास था कि साधुओं के द्वारा हमारा अनिष्ट होने का नहीं। इसलिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—महाराज! हम चोर हैं। साधुओं ने कहा—भाई इतना बुरा काम करते हो यह ठीक नहीं।

साधु बैठ गए और चोर भी। अब दोनों का संवाद चला। साधुओं ने चोरी की बुराई बताई और चोरों ने अपनी परिस्थिति। समय बहुत बीत गया। दिन होने चला। आखिर चोरों पर उपदेश असर कर गया। उनके हृदय में परिवर्तन आया। उन्होंने चोरी को आत्म-पतन का कारण मान उसे छोड़ने का निश्चय कर लिया। चोरी न करने का नियम भी कर लिया। अब वे चोर नहीं रहे। इसलिए उन्हें भय भी नहीं रहा। कुछ उजाला हुआ, लोग इधर-उधर घूमने लगे। वह सेठ भी घूमता-घूमता अपनी दुकान के पास हो निकला। टूटे ताले और खुले किवाड़ देख वह अवाक् सा हो गया। तुरन्त ऊपर आया और देखा कि दुकान की एक बाजू में चोर बैठे साधुओं से बातचीत कर रहे हैं और उनके पास धन की थैलियाँ पड़ी हैं। सेठ को कुछ

आशा बँधी। कुछ कहने जैसा हुआ, इतने में चोर बोले—सेठ जी ! यह आपका धन सुरक्षित है, चिन्ता न करें। यदि आज ये साधु यहाँ न होते तो आप भी करीब करीब साधु जैसे बन जाते। यह मुनि के उपदेश का प्रभाव है कि हम लोग सदा के लिए इस बुराई से बच गए और इसके साथ-साथ आपका यह धन भी बच गया। सेठ बड़ा प्रसन्न हुआ। अपना धन सम्भाल मुनि को धन्यवाद देता हुआ अपने घर चला गया। यह पहला, चोर का दृष्टान्त है। इसमें दो बातें हुई—एक तो साधुओं का उपदेश सुन चोरों ने चोरी छोड़ी, इसमें चोरों की आत्मा चोरी के पाप से बची और दूसरी—उसके साथ सेठ जी का धन भी बचा। अब सोचना यह है कि अहिंसा क्या है ? चोरों की आत्मा चोरी के पाप से बची वह है या सेठ जी का धन बचा वह ?

२—कसाई बकरों को आगे किए जा रहे थे। उन्हें मार्ग में साधु मिले। उनमें से प्रमुख साधु ने कसाईयों को सम्बोधन करते हुए कहा—भाई ! इन बकरों को भी मौत से प्यार नहीं, यह तुम जानते हो ? इनको भी कष्ट होता है, पीड़ा होती है, तुम्हे मालूम है ? खैर ! इसे जाने दो। इनको मारने से तुम्हारी आत्मा मलिन होगी उसका परिणाम दूसरा कौन भोगेगा ? मुनि का उपदेश सुन कसाइयों का हृदय बदल गया। उसने उसी समय बकरों को मारने का त्याग कर दिया और आजीवन निरपराध त्रस जीवों की हिंसा का भी प्रत्याख्यान किया। कसाई अहिंसक—स्थूल हिंसा-त्यागी बन गये।

यह दूसरा, कसाइयों का दृष्टान्त है। इसमें भी साधु के उपदेश से दो बातें हुई—एक तो कसाई हिंसा से बचा और दूसरी—उसके साथ-साथ बकरे मौत से बचे। अब सोचना यह है कि अहिंसा क्या है ? कसाई हिंसा से बचा वह है या बकरे बचे वह ?

चोर चोरी के पाप से बचे और कसाई हिंसा से, यहाँ उनकी आत्म-शुद्धि हुई। इसलिए यह निःसन्देह अहिंसा है। चोरी और जीव-वध के त्याग से अहिंसा हुई किन्तु इन दोनों के साथ-साथ दो कार्य और हुए। धन और बकरे बचे। यदि इन्हें भी अहिंसा से जोड़ दिया जाय तो तीसरे दृष्टान्त पर ध्यान देना होगा।

३—अर्द्ध रात्रि का समय था। बाजार के बीच एक दुकान में तीन साधु स्वाध्याय कर रहे थे। संयोगवश तीन व्यक्ति उस समय उधर से ही निकले। साधुओं ने उन्हें देखा और पूछा—भाई ! तुम कौन हो ? इस घोर वेला में कहाँ जा रहे हो ? यह प्रश्न उनके लिए एक भय था। वे मन ही मन सकुचाए और उन्होंने देखने का यत्न किया कि प्रश्नकर्त्ता कौन है ? देखा तब पता चला कि हमें इसका उत्तर एक साधु को देना है—सच कहें या झूठ ?

आखिर सोचा—साधु सत्य मूर्ति हैं, इनके सामने झूठ बोलना ठीक नहीं। कहते संकोच होता है, न कहें यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे इनकी अवज्ञा होती है। यह सोच वे बोले—महाराज! क्या कहें? आदत की लाचारी है। हम पापी जीव हैं, वेश्या के पास जा रहे हैं। साधु बोले—तुम बड़े भले मानस दीखते हो, सच बोलते हो, फिर भी ऐसा अनार्य कर्म करते हो? तुम्हें यह शोभा नहीं देता। विषय-सेवन से तुम्हारी वासना नहीं मिटेगी। घी की आहुति से आग बुझती नहीं। साधु का उपदेश हृदय तक पहुँचा और ऐसा पहुँचा कि उन्होंने तत्काल उस जघन्य वृत्ति का प्रत्याख्यान कर डाला। वह वेश्या कितनी देर तक उनकी बाट जोहती रही, आखिर वे आए ही नहीं तब उनकी खोज में चल पड़ी और घूमती फिरती वहीं आ पहुँचीं। अपने साथ चलने का आग्रह किया, किन्तु उन्होंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। वह व्याकुल हो रही थी। उसने कहा—आप चलें, नहीं तो मैं कुएँ में गिर कर आत्महत्या कर लूँगी। उन्होंने कहा—हम जिस नीच कर्म को छोड़ चुके, उसे फिर नहीं अपनाएँगे। उसने तीनों की बात सुनी अनसुनी कर कुएँ में गिर कर आत्म-हत्या कर ली।

यह तीसरा, व्यभिचारी का दृष्टान्त है। दो बातें इसमें भी हुईं। एक तो साधु के उपदेश से व्यभिचारियों का दुराचार छूटा और दूसरी—उनके कारण वह वेश्या कुएँ में गिर कर मर गई। अब कुछ उपर की ओर चलें। यदि चोरी-त्याग के प्रसंग में बचने वाले धन से चोरों को, हिंसा-त्याग के प्रसंग में बचने वाले बकरों से कसाइयों को अहिंसा हुई मानी जाय तो व्यभिचार-त्याग के प्रसंग में वेश्या के मरने के कारण उन तीनों व्यक्तियों को हिंसा हुई यह भी मानना होगा[१]।

१-अणुकम्पा.ढाल ५ गा० १—१० :

एक चोर चोरें धन पार को, बले दूजों हो चोरावें आगेवाण।
तीजों कोई करें अनुमोदना, ए तीनांरा हो खोटा किरतब जांण॥
एक जीव हणें तस कायना, हणावे हो बीजो पर नां प्राण।
तीजों पिण हरखे मारीयां, ए तीनोंई हो जीव हंसक जांण॥
एक कुसील सेवे हरष्यों थको, सेवाड़े हो तेतो दूजें करण जोय।
तीजों पिण भलो जांणे सेवीयां, ए तीनांरे हो कर्म तणों बंध होय॥
ए सगला नें सतगुर मिल्या, प्रतिबोध्या हो आंण्या मारग ठाय।
किण २ जीवांने साधां उधरया, तिणरा सुणजो हो विवरा सुध न्याय॥

जीव-रक्षा को अहिंसा का ध्येय मानने वालों के सामने दूसरी कठिनाइयाँ भी हैं। बहुत सारे प्रसंग ऐसे होते हैं जिनमें जीव-रक्षा का प्रश्न दूसरे जीवों के हितों का विरोधी होता है। आचार्य भिक्षु ने ऐसे सात प्रसंग उपस्थित किए वे इस प्रकार हैं—

१—तलाई मेंढ़क और मछलियों से भरी है। उसमें काई जमी हुई है। अनेक प्रकार के जीव-जन्तु उसमें तैर-रहे हैं।

२—पुराने अनाज के ढेर पड़े हैं। उनमें कीड़े विचर रहे हैं। अनेक जीवों के अंडे रखे हुए हैं।

३—जमीकन्द से गाड़ियाँ भरी हैं। जमीकन्द में अनन्त जीव हैं। उन्हें मारने से कष्ट होता है।

४—कच्चे जल के घड़े भरे हैं। जलकी एक बून्द में असंख्य जीव होते हैं। जहाँ जल होता है वहाँ वनस्पति होती है। इस दृष्टि से उसमें अनन्त जीव हैं।

५—कूड़े के ढेर में भीनी खात पड़ी है। उसमें अनेक जीव-जन्तु तिल-मिल कर रहे हैं। अपने किए हुए कर्मों से उन्हें ऐसा अधम जीवन मिला है।

६—किसी जगह बहुत चूहे हैं। वे इधर-उधर आ जा रहे हैं। थोड़ा-सा शब्द सुनते ही वे भाग जाते हैं।

७—गुड़ चीनी आदि मीठी चीजों पर अनेक जीव मँडरा रहे हैं।

चोर हंसक ने कुसीलीया, यां रे तांई रे दीधो साधां उपदेस।
त्यांनें सावद्य रा निरवद कीया, एहवो छैं हो जिण दया धर्म रेस॥
ग्यान दर्शन चारित्र तीनूं तणों, साधां कीधो हो जिण थी उपगार।
तेतो तिरण तारण हुआ तेहना, उतारया हो त्यांनें संसार थी पार॥
ए तो चोर तीनूं समझ्यां थकां, धन रह्यो हो धणीनें कुसल खेम।
हिंसक तीनूं प्रतिबोधीयां, जीव बचीयो हो किधो मारन रो नेम॥
सील आदरीयो तेहनीं, असतरी पड़ी हो कूआ मांहे जाय।
यांरो पाप धर्म नहीं सावने, रह्या मूंआ हो तीनूं इविरत मांय॥
धन रो धणी राजी हुवो धन रह्यां जीव बचीयो हो ते पिण हरपत थाय।
साध तिरण तारण नहीं तेहना, नारी ने पिण हो नहीं डबोई आय॥
केइ मूंढ मिथ्याती इम कहे, जीव बचीया हो धन रह्यो ते धर्म।
तो उणरी सरधा रे लेखे, असतरी मूइ हो तिणरा लागे कर्म॥

मक्खियाँ भिनभिना रही है। वे आपस में एक दूसरे को मार डालते हैं। मक्खा-मक्खी को मार डालता है।

तलाई में भैंस आदि पशु जल पीने को आ रहे हैं।

अनाज का ढिग देख बकरियाँ आ रही हैं।

जमीकन्द की गाड़ी पर बैल ललचा रहे हैं।

जल का घड़ा देख गाय जल पीने आ रही है।

कूड़े के जीवों को चुगने के लिए पंखी आ रहे हैं।

चूहों पर बिल्ली झपट रही है।

मक्खा मक्खी को पकड़ रहा है।

भैंसों को हांकने से तलाई के जीवों की रक्षा होती है।

बकरियों को दूर करने से अनाज के जीवों की रक्षा होती है।

बैलों को हांक देने से जमीकन्द के जीव बचते है।

गाय को हांकने से जलके जीवों की रक्षा होती हैं।

पंखियों को उड़ा देने से कूड़े के जीव जीवित रह जाते है।

बिल्ली को भगा दिया जाय तो चूहे के घर शोक नहीं होता।

मक्खे को थोड़ा इधर उधर कर देने से मक्खी बच जाती है।

पर अहिंसा के क्षेत्र में सब जीव समान हैं। कठिनाई यह है कि किसको भगाया जाय और किसको बचाया जाय? भैंसे को हांका जाय तो उसे कष्ट होता है और न हांका जाय तो तलाई के जीव मरते हैं। ऐसे प्रसंगों में अहिंसक का धर्म यही है कि वह समभाव रखे। किसी के बीच में न पड़े[1]।

१—अणुकम्पा ढ़ा ४ गा० १-१३ :

नाडो भरीयो छें डेडक माछल्यां, मांहे नीलण फूलण रो पूर हो।
लट पूंअरा आदि जलोक सूं, तस थावर भरीया अरुड हो॥
सुलीया धान तणो ढिगलो पड्यो, मांहे लटां ने इल्यां अथाय हो।
सुलसल्यां इण्डादिक अति घणा, किल विल करें तिण मांय हो॥
एक गाडो भर्यो जमीकन्द सूं, तिण में जीव घणा अनन्त हो।
च्यार प्रज्या च्यार प्राण छें, मार्यां कष्ट कह्यो भगवंत हो॥
काचा पांणी तणा माटा भर्या, घणा जीव छे अणगल नीर हो।
नीलण फूलण आदि लटां घणी, त्यांमें अनन्त बताया छे वीर हो॥
खात भीनों उकरडो लटां घणी, गींडोला गधईया जांण हो।
टल वल २ कर रह्या, याने कर्मां नांख्या आंण हो॥

जीव-रक्षा को प्रधान मानने वाले इन कठिनाइयों का पार नहीं पा सकते, तब बड़ों के लिए छोटे और बहुतों के लिए थोड़े जीवोंकी हिंसा को निर्दोष मान लेते हैं। किन्तु इस मान्यता से अहिंसा का सिद्धान्त टूट जाता है। महात्मा गांधी ने भी ऐसे प्रसंग की चर्चा में बताया है—"एक भाई पूछे छे—नाना जन्तुओ एक बीजा नो आहार करतां अनेक बार जोइए छीए। मारे त्यां एक घरोली ने एवो शिकार करता रोज जोऊं छुं, अने बिलाड़ी ने पक्षीओ नो। शुं ए मारे जोया करवो ? अने अटकावतां बीजानी हिंसा करवी ? आवी हिंसा अनेक थयाज करे छे, आमा आपणे शुं करवुं ? में आवी हिंसा नथी थती जोइ शुं ? घणीए वार घरोली ने वांदानो शिकार करती अने वांदा ने बीजा जन्तुओंना शिकार करता में जोया छे। पण ऐ 'जीवो जीवस्य जीवनम्' नो प्राणी जगत नो कायदो अटकाववानुं मने कदी कर्तव्य नथी जणायुं। ईश्वरनी ए अगम्य गूंच उकेलवानो हुं दावो नथी करतो"

अहिंसक सब जीवों के प्रति संयम करता है इसलिए वह सब जीवों की रक्षा करता है। सामाजिक प्राणी समाज की उपयोगिता को ध्यान में रखकर चलते हैं। वे अपने उपयोगी जीवों को बचाते हैं, और अनुपयोगी जीवों

कायक जायगां नें उंदर घणां, फिरे आमां सांहमा अथाग हो।
थोडो सो खडको सांभलें, तो जाजें दिशां दिश भाग हो॥
गुळ खांड आदि मिसटांन में, जीव चिहुं दिस दोड्या जाय हो।
माख्यां ने माका फिर रह्या, तेतो हुचके मांहो मां आय हो॥
नाडो देखी ने आवे भेंसीयां, बान ढूकें बकरा आय हो।
गाडें आवें बलद पाधरा, माटों आय ऊभी छे गाय हो।
पंखी चुगें चकरली उपरे, उंदर पासें मिनकी जाय हो।
माखी ने माका पकड़ ले, साधू किण ने बचावें छोडाय हो॥
भेंस्या हाकल्यां नाडा माहिलां, सगलां रे साता थाय हो।
बकरां ने अलगा कीयां, इंडादिक जीव ते बच जाय हो॥
थोडा सा बलदां नें हांकल्यां, तो न मरे अनंत काय हो।
पाणी पूंहारादिक किण विध मरे, नेड़ी आवण न दे गाय हो॥
लट गींडोलादिक कुसले रहें, जो पंखी ने दीयें उडाय हो।
मिनकी छ्ळकार नसार दें, तो उंदर घर सोग न थाय हो॥
मांका में आयो पाछो करें, तो माखी उड नाठी जाय हो।
साधां रे सगला सारिषा, ते तो विचे न पड़े जाय हो॥

की उपेक्षा करते हैं। उपयोगिता और अहिंसा का सिद्धान्त एक नहीं। गांधी जी ने जो उक्त उत्तर दिया वह काका कालेलकर को नहीं जचा[1] तब किशोर लाल भाई ने इसके साथ अपनी व्याख्या और जोड़ दी, वह यह है—

मन तटस्थ या उदासीन हो तो बचाने का प्रयत्न न किया जाय। जीव को बचाने की वृत्ति जागृत हो जाए, दया भाव उमड़ पड़े तो उसे दबाने की अपेक्षा जीवों को बचाने का प्रयत्न करना अच्छा है।

यह करुणा के उभार की बात है। गांधीजी ने जो कहा वह प्रकृति के नियम और सामाजिक उपयोगिता की बात है। अहिंसा की बात इससे भिन्न है और सूक्ष्म है।

अहिंसा वादी और उपयोगितावादी अपने रास्ते पर कई बार मिलेंगे किन्तु अन्त में ऐसा अवसर भी आएगा जब उन्हें अलग-अलग रास्ते पकड़ने होंगे। और किसी किसी दिशा में एक दूसरे का विरोध भी मानना होगा।

१—धर्मोदय पृ० ६३

वधाज प्राणीयों ने बचावनानो आपणो धर्म नथी। गरोली जीवड़ा ने खाय छे, अे शुं आना पहेलां मे कोई काले जोयुं नथी? गरोली पोतानो खोराक शोधे छे ऐमा अेटले के कुदरती व्यवस्था मां पड़वानु में मारुं कर्तव्य मान्युं नथी। जे जानवरो ने आपणे स्वार्थ खातर के शोख खातर पालीए छीए तेमने बचाववानो धर्म आपणे माथे लीधो छे, अेथी आगळ, आपणाथी जवाय नहीं।

अध्याय : ६

संघ-व्यवस्था

: १ : मार्ग कब तक चलेगा ?

किसी व्यक्ति ने पूछा—"महाराज ! आपका मार्ग बहुत ही संयत है, यह कबतक चलेगा ?" आचार्य भिक्षु ने उत्तर में कहा—"उसका अनुगमन करनेवाले साधु जबतक श्रद्धा और आचार में सुदृढ़ रहेंगे, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेंगे और स्थानक बाँध नहीं बैठेंगे, तब तक यह मार्ग चलेगा।"

अपने लिये स्थान बनाने वाले वस्त्र-पात्र आदि की मर्यादा का लोप करते हैं और एक ही स्थान में पड़े रहते हैं—इस प्रकार वे शिथिल हो जाते हैं। मर्यादा को बहुमान देकर चलने वाले शिथिल नहीं होते[1]।

: २ : धर्म-शासन

धर्म आराधना है। वह स्वतन्त्र मन से होती है। मन की स्वतन्त्रता का अर्थ है—वह बाहरी बन्धन से मुक्त हो और अपनी सहज मर्यादा में बधा हुआ हो। कानून बाहरी बन्धन है। धार्मिक नियम कानून नहीं है। वे मनवाये नहीं जाते। धर्म की आराधना करनेवाले उन्हें स्वयं अंगीकार करते हैं।

आचार्य भिक्षु ने तेरापन्थ संघ को संगठित किया। उसकी सुव्यवस्था के लिये अनेक मर्यादाएँ निर्धारित कीं। जब उन्होंने विशेष मर्यादाएँ बनानी चाहीं तब सब साधु-साध्वियों को पूछा। उन्होंने भी यह इच्छा प्रगट की कि वे होनी चाहिएँ[2]।

१-दृष्टान्त ३०७
२-लिखित १८३२

फलित की भाषा में कहा जा सकता है कि मर्यादाओं के निर्माण में सूझ आचार्य भिक्षु की थी और सहमति सबकी। मर्यादा किसी के द्वारा किसी पर थोपी नहीं गई, बल्कि सबने उसे स्वयं अपनाया।

आचार्य भिक्षु सूझ-बूझ के धनी थे। उन्होंने व्यवस्था के लिए अनेक बातें सुझाईं, इसलिए वे मर्यादा के कर्त्ता कहलाए। पर धर्म-शासन की दृष्टि से मर्यादा की सृष्टि उन सबसे हुई है जिन्होंने उसे अंगीकार किया। धर्म वैयक्तिक ही होता है, किन्तु जब उसकी सामूहिक आराधना की जाती है तब वह शासन का रूप ले लेता है।

: २ : मर्यादा क्यों ?

शासन व्यवहार पर अवलम्बित होता है। साधना का स्रोत अकेले में अधिक स्वच्छ हो सकता है किन्तु अकेले चलने की क्षमता सब में नहीं होती। दूसरों को सहयोग लिए-दिए बिना अकेला रह कर आगे बढ़ना महान् पुरुषार्थ का काम है। जैन-परम्परा में एक कोटि एकल-विहारी साधुओं की होती है। उस कोटि के साधु शरीर-बल, मनोबल, तपोबल और ज्ञानबल से विशिष्ट सामर्थ्यवान् होते हैं। दूसरी कोटि के साधु संघ बद्ध होकर रहते हैं। जहाँ संघ है वहाँ बन्धन तो होगा ही। अकेले के लिए भी बन्धन न हो, ऐसा तो नहीं होता। उसका आत्मानुशासन परिपक्व होता है और वह अकेला होता है इसलिए उसे व्यवहारिक बन्धनों की अपेक्षा नहीं होती।

सामुदायिक जीवन में रहनेवाले साधुओं में अधिकांश दृढ़ मनोबल वाले होते हैं, तो कुछ दुर्बल भी होते हैं। सबका आत्मानुशासन, विवेक और वैराग्य एक सरीखा नहीं होता। आत्मिक-विकास में तारतम्य होता है। उसे किसी व्यवस्था के निर्माण से सम नहीं बनाया जा सकता। जीवन यापन और व्यवहार के कौशल में जो तारतम्य होता है उसे मर्यादाओं द्वारा सम किया जा सकता है। एक गृहस्थ तम्बाकू सूंघता है और दूसरा नहीं सूँघता। दोनों साधु बनते हैं। तम्बाकू सूँघनेवाला साधु हो ही नहीं सकता—ऐसा नहीं है, फिर भी, यह एक व्यसन है। व्यसन साधु के लिए अच्छा नहीं होता। उसे मिटाने के लिए मर्यादा का निर्माण किया जाता है। हमारे संघ में कोई भी साधु तम्बाकू सूँघनेवाला नहीं है। पहले कुछ थे। उनके इस व्यसन को मिटाने के लिए एक मर्यादा बनी कि विशेष प्रयोजन के बिना कोई भी साधु तम्बाकू न सूँघे और किसी विशेष प्रयोजन से सूँघे तो, जितने दिन सूँघे उतने दिन दूध, दही मिठाई आदि 'विगय' न खाए[१]। इस मर्यादा ने तम्बाकू सूँघने

१-मर्यादावलि

वालों और न सूँघने वालों का भेद मिटा दिया। आज कोई भी साधु तम्बाकू सूँघने वाला नहीं है।

: ४ : मर्यादा क्या ?

आचार्य संघ के लिये मर्यादाओं का निर्माण करते हैं। वे थोपी नहीं जाती। थोपी हुई हों तो सम्भव है, हिंसा हो जाए। बल पूर्वक कुछ भी मनवाना अहिंसा नहीं हो सकता। धर्म-शासन की मर्यादाओं को अहिंसा की भाषा में मार्ग-दर्शन ही कहना चाहिए। साधनाशील मुनि साधना के पथ में निर्विघ्न भाव से चलना चाहते हैं। निर्विघ्नता अपने आप नहीं आती। उसके लिए वे आचार्य का मार्ग-दर्शन चाहते हैं। आचार्य उन्हें अमुक-अमुक प्रकार से आत्मनियंत्रण के निर्देश देते हैं। वे ही मर्यादा बन जाती हैं।

: ५ : मर्यादा का मूल्य

मर्यादा का मूल्य साधक के विवेक पर निर्भर होता है। साधक का मनोभाव साधना की ओर झुका हुआ होता है, तब वह स्वयं नियंत्रण चाहता है। मर्यादाएँ मूल्यवान् बन जाती हैं। साधक साधना से भटकता है तब मर्यादाओं का मूल्य घट जाता है। आत्मानुशासन की मर्यादा का अवमूल्यन होता देख अल्पविकसित साधकों के लिए कभी-कभी आचार्य को बाहरी नियंत्रण भी करना पड़ता है। यह करना चाहिए या नहीं, यह अहिंसा की दृष्टि से विचारणीय है, किन्तु संघीय जीवन में ऐसा हो ही जाता है। बाहरी नियंत्रण पर आधारित मर्यादाएँ संघ के लिये आवश्यक होती होंगी, किन्तु साधना की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं है। साधना की दृष्टि से मूल्यवान् मर्यादाएँ वे ही हैं, जो आत्मानुशासन से उपजी हों।

: ६ : मर्यादा की पृष्ठभूमि

श्रद्धा के युग में प्रत्येक मर्यादा की सुरक्षा अपने आपमें होती है। तर्क के युग में वह सहज कार्यकर नहीं रहती। जिस स्थिति को जब बदलना चाहिए, वह ठीक समय पर बदल जाए, तो परिणाम अच्छा आता है, और उसे आगे सरकाने का यत्न होता है, तो वह बदलती अवश्य है, किन्तु प्रतिक्रिया के साथ। सफल मर्यादा वही है, जिसे पालने वालों की श्रद्धा प्राप्त हो। जिसके प्रति निभानेवालों का अधिकांश भाग अश्रद्धाशील हो, आलोचक हो, वह बहुत समय तक टिक नहीं सकती, और टिक कर भी हित नहीं कर सकती। तार्किक दृष्टिकोण से न तो मर्यादाओं का पालन किया जा सकता है और न कराया जा सकता है। उसका पालन करने वाला श्रद्धावान् हो, हृदयवान् हो, तभी उसका निर्वाह हो सकता है।

आचार्य भिक्षु ने अपने प्रिय शिष्य भारीमाल जी से कहा—"यदि तुझ में किसी ने खामी बताई, तो प्रत्येक खामी के लिए तेला (त्रि दिवसीय उपवास) करना होगा।"

उन्होंने उसे स्वीकार करते हुए कहा—"गुरुदेव! यदि कोई झूठमूठ ही खामी बता दे तो?"

आचार्यवर ने कहा—"तेला तो करना ही है। खामी होने पर कोई उसे बताए, तो 'तेला' उसका प्रायश्चित्त हो जाएगा। खामी किये बिना भी कोई उसे बताए, तो मान लेना कि यह किये हुए कर्मों का परिणाम है।" भारीमल जी ने आचार्य की वाणी को सहर्ष शिरोधार्य कर लिया[1]।' तर्क से यह कभी शिरोधार्य नहीं किया जा सकता था।

एक आचार्य ने अपने शिष्य से कहा—"जाओ, साँप की लम्बाई को नाप आओ।" शिष्य गया, एक रस्सी से उसकी लम्बाई को नाप लाया। आचार्य जो चाहते थे, वह नहीं हुआ। आचार्य ने फिर कहा—जाओ, साँप के दाँत गिन आओ। शिष्य गया, उसके दाँत गिनने के लिए मुँह में हाथ डाला कि साँप ने उसे काट खाया। आचार्य ने कहा—बस काम हो गया। उसे कम्बल उढ़ा सुला दिया। विष की गर्मी ने उसके शरीर में से सारे कीड़ों को बाहर फेंक दिया।

अधिकांश लोग जो अपने आपको कूटनीतिक मानते हैं, अहिंसा में विश्वास नहीं करते। जहाँ हिंसा है, बल प्रयोग है, राजसी वृत्तियाँ हैं, वहाँ हृदय नहीं होता, छलना होती है। छलना और श्रद्धा के मार्ग दो हैं। श्रद्धा निश्छल भाव में उपजती है। जहाँ नेता के तर्क के प्रति अनुगामी का तर्क आता है, वहाँ बड़े-छोटे का भाव नहीं होता, वहाँ होता है, तर्क की चोट से तर्क का हनन।

आज का चतुर राजनयिक तर्क को कवच मानकर चलता है, पर यह भूल है। प्रत्यक्ष या सीधी बात के लिए तर्क आवश्यक नहीं होता। तर्क का क्षेत्र है, अस्पष्टता। स्पष्टता का अर्थ है, प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष का अर्थ है, तर्क का अविषय। तर्क की अपेक्षा प्रेम और विश्वास अधिक सफल होते हैं। जहाँ तर्क होता है, वहाँ जाने-अनजाने दिल सन्देह से भर जाता है। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ सहज विश्वास बढ़ता है।

अहिंसा और कोरी व्यवस्था के मार्ग दो हैं। अहिंसा के मार्ग में तर्क नहीं आता, और कोरी व्यवस्था के मार्ग में प्रेम नहीं पनपता। तर्क की भाषा

१—भिक्षु यश रसायण पृ० ३३-३४

में दोनों को अपूर्ण कहा जा सकता है, पर प्रेम कभी अपूर्ण नहीं होता। प्रेम की अपूर्णता में ही तर्क का जन्म होता है। प्रेम की गहराई में सारे तर्क लीन हो जाते हैं।

यह विराट प्रेम ही अहिंसा है, जिसकी गहराई सर्वभूत-साम्य की भावना से उत्पन्न होती है, और आत्मौपम्य की सीमा में ही फिर विलीन हो जाती है। हमारे विश्वास व्यवहारस्पर्शी अधिक हैं, इसलिए यह मार्ग हमें निर्विघ्न नहीं लगता। व्यवहार-कौशल ने हमारी विशुद्ध आन्तरिक प्रवृत्तियों को बुरी तरह दबोच रखा है। आवश्यकता यह है, कि हम अपनी स्वतः-स्फूर्त अन्तःकरण की प्रवृत्तियों को व्यवहार की संकीर्ण सीमा से बाहर जाने दें। मर्यादा के औचित्य का दर्शन हमें वहीं होगा।

आचार्य भारीमलजी ने अपने उत्तराधिकार पत्र में दो नाम लिखे। मुनि जीतमलजी ने उनसे प्रार्थना की—गुरुदेव! इस पत्रमें नाम एक ही होना चाहिए, दो नहीं। आपने कहा—जीतमल! खेतसी और रायचन्द मामा-भानजे हैं। दो नाम हों तो क्या आपत्ति है? मुनिवर ने फिर अनुरोध किया कि नाम तो एक ही होना चाहिए, रखें आप चाहे जिसका। आचार्यवर ने खेतसी का नाम हटा दिया। उनका नाम लिखा गया, उसे उन्होंने गुरु का प्रसाद माना, हटा दिया उसे भी गुरु का प्रसाद माना। यह प्रेम की पूर्णता है। यदि प्रेम अपूर्ण होता, तो नाम हटने की स्थिति में बहुत बड़ा विवाद उठ खड़ा होता। प्रेम की पूर्णता में असह्य कुछ भी नहीं होता।

: ७ : मर्यादा की उपेक्षा क्यों?

मर्यादा का भाग्य योग्य व्यवस्थापक के हाथों में ही सुरक्षित रहता है। अधिकारी व्यक्ति जब अपना या अपने आस-पास का हित देखने लग जाता है, तब मर्यादा पालने वालों की दृष्टि में सन्देह भर जाता है। उनकी अनिवार्यता उनके लिए समाप्त हो जाती है। व्यवस्था की कमी व्यवस्थापक के प्रति अश्रद्धा लाती है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है, कि व्यस्थापक की कमी से व्यवस्था वीर्य-हीन बन जाती है। व्यवस्था की अप्रामाणिकता भी उसमें अश्रद्धा उत्पन्न करती है। व्यवस्था के प्रति विश्वास तभी स्थिर होता है, जब वह कभी अधिक और कभी कम साधन प्रस्तुत न करे। व्यवस्था को प्राणवान् बनाए रखने के लिए उसे किसी भी व्यक्ति से अधिक मूल्य मिलना चाहिए।

आचार्य भिक्षु की व्यवस्था इसलिए प्राणवान् है, कि वे अनुशासन के पक्ष में बहुत ही सजग थे। एक बार की घटना है, आचार्य भिक्षु ने मुनि वेणीरामजी को बुलाने के लिये शब्द किया। उत्तर नहीं मिला। दो तीन बार आवाज देने पर भी उत्तर नहीं मिल रहा था।

लगता है, बेणीराम संघ से अलग होगा—आचार्य भिक्षु ने गुमानजी लुणावत से कहा। गुमानजी तत्काल उठे, और सामने की दूकान में बेणीरामजी स्वामी के पास जा वह सब सुना दिया, जो आचर्यवर ने कहा था।

वे उसी क्षण आचार्यवर के पास आए, और वन्दना की। आपने कहा—शब्द करने पर भी नहीं बोलता है ?

बेणीरामजी ने कहा—गुरुदेव ! मैंने सुना नहीं था। उनके नम्र व्यवहार ने आचार्यवर को प्रसन्न कर लिया, किन्तु इस घटना से सब साधुओं को अनुशासन की एक सजीव शिक्षा मिल गई[1]।

आचार्य भिक्षु अनुशासन में कभी शिथिलता नहीं आने देते थे। सिंहजी गुजराती साधु थे। वे आचार्य भिक्षु के शिष्य बन गए। कुछ दिन वे अनुशासन में रहे, फिर मर्यादा की अवहेलना करने लगे। यह देख आचार्यवर ने उन्हें संघ से अलग कर दिया। वे दूसरे गाँव चले गए। पीछे से खेतसीजी स्वामी ने कहा—उन्हें प्रायश्चित दें, मैं वापस ले आता हूँ। आचार्यवर ने कहा—वह फिर लाने योग्य नहीं है।

खेतसीजी ने आचार्यवर की बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया। वे उन्हें लाने के लिये तैयार हुए। आचार्यवर ने अनुशासन की डोर को खींचते हुए कहा—खेतसी ! तूने उनके साथ आहार का सम्बन्ध जोड़ा, तो तेरे साथ हमें आहार का सम्बन्ध रखने का त्याग है। खेतसीजी के पैर जहाँ थे, वहीं रह गए। फिर उनकी अयोग्यता और अनुशासनहीनता के अनेक प्रमाण सुनने को मिले[2]।

: ८ : अनुशासन की भूमिका

अनुशासन की पूर्णता के लिए अनुशासन करने वाला योग्य हो इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसकी पूर्णता के लिए इसकी भी बड़ी अपेक्षा होती है कि उसे मानने वाले भी योग्य हों। दोनों की योग्यता से ही अनुशासन को समुचित महत्त्व मिल सकता है।

आचार्य भिक्षु शिष्यों के चुनाव को बहुत महत्त्व देते थे। वे हर किसी को दीक्षित बनाने के पक्ष में नहीं थे। अयोग्य-दीक्षा पर उन्होंने तीखे वाण फेंके। जो शिष्य-शिष्याओं के लोभी हैं, केवल सम्प्रदाय चलाने के लिए बुद्धि-विकल व्यक्तियों को मूँड-मड कर इकट्ठा करते हैं, उन्हें रुपयों से मोल

१—दृष्टान्त-१६३

२—दृष्टान्त-१६६

लेते हैं, वे गुणहीन आचार्य हैं और उनकी शिष्य-मण्डली कोरी पेटू[1]।

कुछ साधु गृहस्थ को इसकी प्रतिज्ञा दिलाते कि दीक्षा मेरे पास ही लेना और कहीं नहीं। यह ममत्व है। ऐसा करना साधु के लिए अनुचित है[2]।

विवेक-विकल व्यक्ति को साधु का स्वांग पहनाने वाले और अयोग्य को दीक्षित करने वाले भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं[3]।

अयोग्य शिष्यों की बाढ़ आ रही थी, उसका कारण था आचार्य पद की लालसा। आचार्य भिक्षु ने रोग की जड़ को पकड़ लिया। उन्होंने उस पर दोनों ओर से नियंत्रण किया। उन्होंने एक मर्यादा लिखी कि मेरे बाद आचार्य भारमलजी होंगे। तेरापंथ में आचार्य एक ही होगा, दो नहीं हो सकेंगे[4]। दूसरी ओर आपने उसी मर्यादा-पत्र में एक धारा यह लिखी कि जो शिष्य बनाए जाएँ वे सब भारमलजी के नाम से बनाए जाएँ[5]। इसके द्वारा शिष्य बनाने पर भी नियन्त्रण हो गया। जो चाहे वह आचार्य भी नहीं

१-साध्वाचार ढा० ३ गा० ११-१३

चेला-चेली करण रा लोभिया रे, एकंत मत बांधण सूं काम रे।
विकलां नें मूंड-मूंड भेला करे रे, दिराए गृहस्थ ना रोकड़ दाम रे॥
पूजरी पदवी नाम धरावसीं रे, में छां सासण नायक साम रे।
पिण आचारे ढीला सुधनहिं पालसी रे,नहिं कोइ आतम साधन काम रे॥
आचार्य नाम धरासीं गुण विना रे, पेटभरा ज्यांरों परवार रे।
लपटी तो हूसी इन्द्री पोपवा रे, कपट कर ल्यासी सरस आहार रे॥

२-साध्वाचार ढा० १ गा० १८-१९

दिख्या ले तो मो आगे लीजे, ओर कनें दे पालजी।
कुगुर एहवो सूंस करावे, ए चोड़े ऊँधी चालजी॥
ए बंधाथी ममता लगे, गृहस्थ सूँ भेलप थायजी।
नशीत रे चोथे उद्देसे, डंड कह्यो जिनरायजी॥

३-साध्वाचार ढा० १ गा० २३-२४

विवेक विकल नें साँग पहराए, भेलो करे आहार जी।
सामग्री में जाय वंदावें, फिर फिर करे खुवार जी॥
अजोग नें दिख्या दीधी ते, भगवंतरी आज्ञा वार जी।
नसीतरो डंड मूल न मान्यों, ते विटल हुवा वेकार जी॥

४-लिखित १८३२

५-लिखित १८३२

हो सकता और जो चाहे वह शिष्य भी नहीं बना सकता। आचार्य हुए बिना शिष्य कैसे बनाएँ और शिष्यों के बिना आचार्य कैसे बने? यह उभयतः पाश रचकर आचार्यवर अयोग्य दीक्षा की बाढ़ को रोकने में सफल हुए।

आचार्य भिक्षु ने एक अपवाद रखा था—भारमलजी प्रसन्न होकर किसी साधु को शिष्य बनाने की स्वीकृति दें, तो वह बना सकता है। इस विधि का प्रयोग नहीं हुआ।

कुछ वर्षों तक साधु किसी व्यक्ति को दीक्षित कर आचार्य को सौंप देते थे, पर अब वह परम्परा भी नहीं है। वर्तमान में जितनी भी दीक्षाएँ होती हैं, उनमें निन्यानवे प्रतिशत आचार्य के हाथों से ही सम्पन्न होती हैं। एक प्रतिशत कहीं अन्यत्र आचार्य की स्वीकृति से दूसरे साधु-साध्वियों द्वारा सम्पन्न होती हैं। आचार्य को दीक्षा का सर्वाधिकार देकर भी उन्हें एक धारा के द्वारा फिर सचेत किया है—"आचार्य भी उसे ही शिष्य बनाएँ जिसे और-और बुद्धिमान साधु भी दीक्षा के योग्य समझें। दूसरे साधुओं को जिसकी प्रतीति हो उसीको दीक्षा दें, जिसकी प्रतीति न हो उसे दीक्षा न दें। दीक्षा देने के बाद भी कोई अयोग्य हो तो बुद्धिमान साधुओं की सहमति से उसे संघ से पृथक् कर दें[1]।"

दीक्षा लेने का मुख्य हेतु वैराग्य है, किन्तु कोरे वैराग्य से संयम की साधना नहीं हो सकती। विरक्त आदमी इन्द्रिय और मन का संयम कर सकता है किन्तु संयम की मर्यादा इससे भी आगे है। भगवान् ने कहा है—जो जीवों को नहीं जानता, अजीवों को नहीं जानता वह संयम को कैसे जानेगा? जो जीवों को जानता है, अजीवों को जानता है, वही संयम को जान सकेगा[1]। जीव है, अजीव है, बन्धन है, उसके हेतु हैं, मुक्ति है, उसके हेतु हैं। साधक के लिए ये मौलिक तत्त्व हैं। इन्हीं के विस्तार को नव-तत्त्व कहा जाता है।

आचार्य भिक्षु ने लिखा कि दीक्षार्थी को नव-तत्त्वों की पूरी जानकारी

१-लिखित १८३२

१-दशवैकालिक ४ : १२, १३ :

जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कह सो नाहीइ संजमं॥
जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणइ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं॥

करने के बाद दीक्षा दी जाए[1]। आचार्य भिक्षु अपने जीवन में सदा सतर्क रहे। उन्होंने अन्तिम शिक्षा में भी यही कहा—"जिस-तिस को मत मूंड लेना, दीक्षा देने में पूरी सावधानी रखना[2]।" इस प्रकार अयोग्य दीक्षा पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा उन्होंने अनुशासन की भूमिका को सुदृढ़ बना दिया।

: ९ : अनुशासन के दो पक्ष

अनुशासन आत्मशुद्धि के लिए भी आवश्यक होता है और सामुदायिक व्यवस्था के लिए भी। इनमें एक नैश्चयिक पक्ष है और दूसरा व्यावहारिक। मुनि जीवन भर के लिए पाँच महाव्रतों को अंगीकार करता है, यह नैश्चयिक अनुशासन का पक्ष है।

महाव्रतों को एक एक कर स्वीकार नहीं किया जा सकता। इनका स्वीकार एक ही साथ होता है। आचार्य भिक्षु के शब्दों में महाव्रत उस धागे में पिरोई हुई माला है, जिसमें मनकों के बीच-बीच में गाँठ नहीं होती। वे एक ही सरल धागे में एक साथ रहते हैं और धागा टूटता है तो सारे के सारे मनके गिर जाते हैं। अणुव्रत उस धागे में पिरोई हुई माला है, जिसमें प्रत्येक मनके के बीच गाँठ होती है। वह एक गाँठ के बाद एक होता है और धागा टूटता है तो एक ही मनका गिरता है, सारे के सारे नहीं गिरते।

महाव्रतों की युगपत् प्राप्ति को आचार्यवर ने संवादात्मक शैली से समझाया है—

गुरु :—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह ये पाँच महान् दोष हैं। इनके द्वारा जीव दुःख की परम्परा को बनाए रखता है।

शिष्य :—हो भगवन्। सुख की प्राप्ति के उपाय क्या हैं?

गुरु :—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह ये पाँच महान् गुण हैं। इनके द्वारा जीव असीम सुख को प्राप्त होता है।

शिष्य :—गुरुदेव! मैं अहिंसा महाव्रत को अंगीकार करता हूँ। मैं आज से किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं करूँगा। किन्तु गुरुदेव वाणी पर मेरा इतना नियन्त्रण नहीं कि मैं असत्य बोलना छोड़ सकूँ।

गुरु—शिष्य! इस प्रकार महाव्रत अंगीकार नहीं किये जा सकते। असत्य बोलने का त्याग किये बिना तुम अहिंसा-महाव्रती कैसे बन पाओगे? असत्य बोलने वाला हिंसा में धर्म बताने में क्यों संकोच करेगा?

असत्य भाषी इस सिद्धान्त का भी प्रचार कर सकता है कि हिंसा में भी

१-लिखित १८३२

२-लिखित १८५९

धर्म, है तो उसे कौन रोकेगा ? असत्य और हिंसा दोनों साथ-साथ रहते हैं। जहाँ हिंसा है, वहाँ असत्य वचन नहीं भी हो सकता किन्तु जहाँ असत्य-वचन है, वहाँ हिंसा अवश्य है। इसलिए असत्यभाषी रहकर तुम अहिंसा के महाव्रती नहीं बन सकते।

शिष्य :— गुरुदेव ! मैं हिंसा और असत्य दोनों का त्याग करूँगा, परन्तु मैं चोरी नहीं छोड़ सकता। धन के प्रति मेरी अत्यन्त लालसा है।

गुरु :—तू हिंसा नहीं करेगा, असत्य भी नहीं बोलेगा तो चोरी कैसे कर सकेगा ? तू चोरी करके सत्य बोलेगा तो चोरी का धन तेरे पास कैसे रहेगा ? लोग तुझे चोरी करने भी कब देंगे ?

दूसरों का धन चुराने से उन्हें कष्ट होता है। किसी को कष्ट देना हिंसा है। इस प्रकार तेरा पहला महाव्रत टूट जाएगा और तू यह कहे कि धन चुराने में हिंसा नहीं है तो तेरा दूसरा महाव्रत भी टूट जाएगा।

शिष्य :—अच्छा, गुरुदेव ! मैं इन तीनों महाव्रतों को अंगीकार कर लूँगा, पर मैं ब्रह्मचारी नहीं बन सकता। भोग मुझे बहुत प्रिय हैं।

गुरु :—अब्रह्मचारी पहले तीनों महाव्रतों को तोड़ देता है। अब्रह्मचर्य सभी गुणों को इस प्रकार जला डालता है जिस प्रकार धुनी हुई रुई को आग। अब्रह्मचर्य के सेवन से जीवों की हिंसा होती है—पहला महाव्रत टूट जाता है। हिंसा नहीं होती—ऐसा कहने पर दूसरा महाव्रत टूट जाता है। अब्रह्मचर्य का सेवन भगवान की आज्ञा के विरुद्ध है, इसलिये तीसरा महाव्रत टूट जाता है। इस प्रकार अब्रह्मचर्य सेवन से पहले तीनों महाव्रत टूट जाते हैं।

शिष्य :—गुरुदेव ! मैं अपनी आत्मा को वश में करूँगा। आप मुझे ये चारों महाव्रत अंगीकार करा दीजिए। पर पाँचवें महाव्रत को अंगीकार करने में मैं अपने को असमर्थ पाता हूँ। ममत्व को त्यागना मेरे लिए बहुत कठिन है। परिग्रह के बिना मेरा काम नहीं चल सकता।

गुरु :—यदि परिग्रह नहीं छोड़ा, तो तूने छोड़ा ही क्या ? हिंसा, असत्य, चोरी और अब्रह्मचर्य—इन सब रोगों की जड़ परिग्रह ही तो है। परिग्रह की छूट रख कर तू अन्य महाव्रतों का पालन कैसे करेगा ? मनुष्य परिग्रह के लिए हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है और भोग स्वयं परिग्रह है। इसलिये परिग्रह रखने वाला शेष महाव्रतों को अंगीकार नहीं कर सकता।

शिष्य :—गुरुदेव ! केवल परिग्रह के कारण यदि मेरे चारों महाव्रत टूटते हैं तो मैं उसे भी त्याग दूँगा। मैं हिंसा आदि पाँचों दोषों का मनसा, वाचा कर्मणा, सेवन नहीं करूँगा। अब तो मैं महाव्रती हूँ न ?

गुरु :—नहीं हो।

शिष्य :—यह कैसे ?

गुरु :—तुम केवल हिंसा करने का त्याग करते हो, कराने का नहीं। इसका अर्थ हुआ कि तुम हिंसा कर सकते हो। तब भला महाव्रती कैसे ? हिंसा करने वाला हिंसक है तो क्या करानेवाला हिंसक नहीं है ?

घर में तो पूरा अनाज ही खाने को नहीं मिलता और साधु बन कर बहुत सारे लोग राजसी ठाट भोगने लग जाते हैं। यह महाव्रत की आराधना का मार्ग नहीं है।

शिष्य :—गुरुदेव ! मैं हिंसा कराने का भी त्याग करता हूँ, फिर तो कुछ शेष नहीं होगा ?

गुरु :—हिंसा के अनुमोदन का त्याग किये बिना महाव्रत कहाँ है ? हिंसा करने, कराने वाला हिंसक है तो उसका अनुमोदन करने वाला अहिंसक कैसे होगा ?

शिष्य :—समझ गया हूँ गुरुदेव ! हिंसा आदि दोषों का सेवन करने, कराने और उनका अनुमोदन करने का मनसा, वाचा, कर्मणा त्याग करने वाला ही महाव्रती हो सकता है। भगवन् ! मैं ऐसा ही होना चाहता हूँ।

गुरु :—जैसी तुम्हारी इच्छा[1]।

शिष्य :—इनके टूटने का क्रम क्या है ? यदि कदाचित् कोई महाव्रत टूट जाय तो शेष तो बच रहेंगे ?

गुरुः—यह कैसे हो सकता है ?

शिष्यः—तो फिर यह कैसे हो सकता है कि एक के टूटने पर सभी टूट जायँ।

गुरुः—एक भिखारी को पाँच रोटी जितना आटा मिला। वह रोटी बनाने बैठा। उसने एक रोटी बना चूल्हे के पीछे रख दी। दूसरी रोटी तवे पर सिक रही थी, तीसरी अँगारों पर, चौथी रोटी का आटा उसके हाथ में था और पांचवीं रोटी का आटा कठौती में पड़ा था।

एक कुत्ता आया। कठौती से आटे को उठा कर ले गया। उसके पीछे पीछे वह भिखारी दौड़ा। वह ठोकर खाकर गिर पड़ा। उसके हाथ में जो एक रोटी का आटा था वह धूल से भर गया। उसने वापस आकर देखा कि चूल्हे के पीछे रखी हुई रोटी बिल्ली ले जा रही है। तवे पर रखी हुई रोटी तवे पर और अँगारों पर रखी हुई अँगारों पर जल गई। एक रोटी का आटा ही नहीं गया, पाँचों रोटियाँ चल गईं। गुरु ने कहा—यह अकस्मात् हो सकता

१-साध्वाचार चौ० ढा० २४

है, पर यह सुनिश्चित है कि एक महाव्रत के टूटने पर सभी महाव्रत टूट जाते हैं[1]।

महाव्रत मूलगुण है। इनकी सुरक्षा के लिए ही उत्तर-गुणों की सृष्टि होती है। मर्यादाएँ उत्तर-गुण हैं। मूल पूँजी ही न रहे तो उसकी सुरक्षा का प्रश्न ही मूल्यहीन हो जाता है।

अनुशासन और विनय का मूल्य महाव्रती जीवन में ही बढ़ता है। इसी-लिये आचार्य भिक्षु ने एकाधिक वार कहा है कि मैंने जो मर्यादाएँ की हैं, उनका मूल्य इसीलिए है कि वे महाव्रतों की सुरक्षा के उपाय हैं।

: १० : अनुशासन का उद्देश्य

तीन प्रकार की नौकाएँ हैं—

(१) एक काठ की, जिसमें छेद नहीं होता।

(२) एक काठ की, किन्तु फूटी हुई।

(३) एक पत्थर की।

पहली नौका के समान साधु होते हैं, जो स्वयं तरते हैं और दूसरों को भी तारते हैं।

दूसरी कोटि की नौका के समान साधु का भेष धारण करने वाले हैं, जो स्वयं डूबते हैं और दूसरों को डुबोते हैं।

तीसरी कोटि के समान पाखंडी हैं, जो प्रत्यक्ष विरुद्ध हैं, इसलिए उनके जाल में लोग सहसा नहीं फँसते।

भेषधारी प्रत्यक्ष विरुद्ध नहीं होते। इसलिए उनके जाल में लोग सहसा फँस जाते हैं[2]।

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि अनुशासन का भंग उच्छृङ्खल वृत्तियों से होता है। अंकुश के बिना जैसे हाथी चलता है, लगाम के बिना जैसे घोड़ा चलता है वैसे ही जो अनुशासन के बिना चलता है वह नामधारी साधु है[3]।

इस युग में श्रमण थोड़े हैं और मुंडी अधिक हैं। वे साधु का भेख (भेष)

१-दृष्टान्त-४१

२-दृष्टान्त-२०१

३-साध्वाचार ढाल १ गा० ३५ :

विन अंकुस जिम हाथी चाले, घोड़ो विगर लगाम जी।
एहवी चाल कुगुरु री जाणो, कहिवा नें साधु नाम जी॥

पहन कर माया-जाल बिछा रहे हैं[1]। इस माया जाल की अन्त्येष्टि के लिए उन्होंने मर्यादाएँ की। उनकी वाणी है—शिष्यो! वस्त्रों और सुविधाकारी गाँवों की ममता में बंध कर असंख्य जीव चरित्र से भ्रष्ट हो गए हैं।

इसलिए मैंने शिष्यों की ममता मिटाने व शुद्ध चारित्र को पालने का उपाय किया है, विनय मूल धर्म व न्याय मार्ग पर चलने का प्रण किया है।

भेषधारी विकल शिष्यों को मूँड इकट्ठा कर लेते हैं। वे शिष्यों के भूखे होकर परस्पर एक-दूसरे में दोष बतलाते हैं, एक-दूसरे के शिष्यों को फंटा पृथक् कर लेते हैं, कलह करते हैं। मैंने ये चरित्र देखे हैं। इसलिए मैंने साधुओं के लिए ये मर्यादाएँ की हैं। शिष्य-शाखा का सन्तोष करा कर सुखपूर्वक संयम पालने का उपाय किया है[2]।

: ११ : विचार स्वातन्त्र्य का सम्मान

भारत में गणतन्त्र का इतिहास पुराना है। गणतन्त्र का अर्थ है—अनेक शासकों द्वारा चलित राज्य। जनतन्त्र जनता का राज्य होता है। गणतन्त्र की अपेक्षा जनतन्त्र अधिक विकासशील है। विकास की कसौटी है स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता का मूल्य है आध्यात्मिक विचार।

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है। वह अपने ही कार्यों द्वारा स्वयं चालित होती है। उसकी व्यवस्था अपने आप में निहित है। प्रत्येक आत्मा स्वयं ब्रह्मा है, स्वयं विष्णु और स्वयं शंकर।

स्वतन्त्रता का वास्तविक मूल्यांकन धार्मिक जगत् में ही होता है। राजनीति में गणतन्त्र या जनतन्त्र हो सकता है, पर स्वतन्त्रता का विकास नहीं हो सकता। राज्य का मूल मन्त्र है-शक्ति, और धर्म का मूल मन्त्र है—पवित्रता। जहाँ शक्ति है वहाँ विवशता होगी और जहाँ पवित्रता है वहाँ हृदय की शुद्धि होगी।

हृदय की शुद्धि जिस अनुशासन को स्वीकार करती है वह है धर्म-शासन।

विवशता से जो अनुशासन स्वीकार करना होता है वह है राज्य शासन।

धर्म-शासन हृदय का शासन है। इसलिये उसे एकतन्त्र, गणतन्त्र, जनतन्त्र जैसी राजनीतिक संज्ञा नहीं दी जा सकती। फिर भी यदि हम नामकरण

१-साध्वाचार ढ़ाल २ दू-२

समण थोड़ा नें मुँड घणा, पांचमें षेन।
भेष लेइ साधां तणो, करसी कूड़ा फेन॥

२-लिखित १८३२

का लोभ-संवरण न कर सकें तो आचार्य भिक्षु की शासन प्रणाली को एकतन्त्र और जनतन्त्र का समन्वय कह सकते हैं।

एकतन्त्र इसलिये कि उसमें आचार्य का महत्व सर्वोपरि है। आचार्य का महत्व सर्वोपरि है इसलिए इसे 'एकतन्त्र' की संज्ञा मिल जाती है, यदि यह राजनीतिवाद होता। किन्तु यह धर्म-शासन का एक प्रकार है। इसमें आचार्य को मानने के लिए दूसरे विवश नहीं किये जाते, किन्तु साधना करने वाले स्वयं आचार्य को महत्व देते हैं। उनके निर्देशन में ही अपनी यात्रा को निर्बाध समझते हैं। जनतन्त्र इसलिये कि आचार्य अपने शिष्यों पर अनुशासन लादते नहीं किन्तु उन्हें, उन्हीं के हित के लिए, उसकी आवश्यकता समझा कर अनुशासित करते हैं। इसलिये यह न कोरा एकतन्त्र है और न कोरा जनतन्त्र, किन्तु एकतन्त्र और जनतन्त्र का समन्वय है।

आचार्य भिक्षु ने एक मर्यादा-पत्र में लिखा है कि—"मैंने जो मर्यादाएँ की हैं, वे सब साधुओं के मनोभावों को देख कर, उन्हें राजी कर, उनसे कहला कर कि ये होनी चाहिए, की हैं। जिसका आन्तरिक विचार स्वच्छ हो, वह इस मर्यादा-पत्र पर हस्ताक्षर करें। इसमें शर्माशर्मी का कोई काम नहीं है। मुँह पर और तथा मन में और—यह साधु के लिये उचित नहीं है[1]।" यह हृदय की स्वतन्त्रता ही एकतन्त्र में जनतन्त्र को समन्वित करती है।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन को जितना महत्व दिया है उतना ही स्वतन्त्रता का सम्मान किया है। एक ओर कोई साधु मर्यादा को स्वीकार करे और दूसरी ओर उसकी आलोचना करे—यह स्वतन्त्रता नहीं किन्तु अनुशासन हीनता है। स्वतन्त्रता वह है कि जो न जंचे, उसे स्वीकार ही न करे। स्वीकार कर लेने पर उसकी टीका-टिप्पणी करता रहे, यह अपने मतदान के प्रति भी न्याय नहीं है[2]।

एक साधु ने कहा—मुझे प्रायश्चित लेना है पर मैं आपके पास नहीं लूँगा। मुझे आपका विश्वास नहीं है।

आपने कहा—"आलोचना मेरे पास करो, दोष का निवेदन मुझे करो फिर प्रायश्चित्त भले उस तीसरे साधु से करो।"

प्रायश्चित्त कम-बेशी नहीं देना चाहिये, यह अनुशासन का प्रश्न है। इस-

---

१-लिखित १८३२

२-लिखित १८३२

लिए आपने आलोचना किसी के पास करने की छूट नहीं दी। आलोचना आप के पास होती है तो प्रायश्चित्त देने वाला कम नहीं दे सकता।

प्रायश्चित्त आचार्य के पास ही करना चाहिए, पर उस साधु ने दूसरे साधु के पास करना चाहा। यह उसकी मानसिक दुर्बलता है और आचार्यवर ने उसे यह छूट दी, वह उनकी मानसिक उच्चता है। यह ऊँचाई उन्हें स्वतन्त्रता का सम्मान करने के फलस्वरूप मिली थी।

उन्होंने एक मर्यादा-पत्र लिखा कि जो साधु मुझसे प्रायश्चित्त ले वह मुझ में भरोसा रखे। मुझे जैसा दोष लगेगा वैसा प्रायश्चित्त मैं दूँगा। प्रायश्चित्त देने के पश्चात् इसे थोड़ा दिया, उसे अधिक दिया—यों कहना अनुचित है। जिसे मुझ में विश्वास हो वह यह मर्यादा स्वीकार करे, जिसे मुझ में विश्वास न हो, वह न करे। मैं अपनी बुद्धि से तोल कर प्रायश्चित्त देता हूँ। राग-द्वेष वश कम-बेशी दूँगा तो उसका फल मुझे भुगतना होगा। इस पर भी किसी को मेरा विश्वास न हो तो वह किसी दूसरे साधु से प्रायश्चित्त ले ले। पर प्रायश्चित्त लेने के बाद किसी प्रकार का विग्रह खड़ा न करे[1]।

एक साधु की भूल ने उनकी छिपी हुई महानता को प्रकाश में ला दिया। फिर किसी भी साधु ने इस भूल को नहीं दुहराया।

स्वतन्त्रता का सम्मान वही कर सकता है जो अनुभूति की गहराई में डुबकियां ले चुका हो। आचार्य भिक्षु ने बहुत देखा, बहुत सुना और बहुत सहा।

आप एक बार वायु-रोग से पीड़ित हो गए थे। उन दिनों की बात है—हेमराज जी स्वामी 'गोचरी' गए। भिक्षा की झोली आचार्यवर के सामने रखी। एक पात्र में दाल थी—चनों और मूँगों की मिली हुई।

आचार्यवर ने पूछा—यह चनों और मूँगों की दाल किसने मिलाई?

हेमराजजी—स्वामी ने उत्तर दिया—मैंने।

आचार्यश्री—रोगी के लिए मूँग की दाल की खोज करना तो दूर रहा, किन्तु जो सहज प्राप्त हुई उसे भी मिला कर लाया है!

हेमराज जी—ध्यान नहीं रहा, अनजाने ऐसा हो गया।

आचार्य श्री—यह ऐसी क्या गहरी बात थी, जो ध्यान नहीं रहा! वर्तमान की आवश्यकता को तू जानता है फिर अनजाने में यह कैसे हुआ?

हेमराज जी स्वामी को आचार्य भिक्षु की यह बात चुभी। वे उदास हो एकान्त स्थान में जा लेट गए। आचार्य भिक्षु ने समय की सुई को कुछ और सरकने दिया। वे आहार कर आए और हेमराज जी स्वामी को सम्बोधित कर कहा—अपना अवगुण देख रहा है या मेरा?

१-लिखित १८४१

हेमराजजी स्वामी ने कहा—"गुरुदेव ! अपना ही देख रहा हूँ।"

आचार्य भिक्षु बोले—"मैंने जो कहा है वह चुभन उत्पन्न करने के लिए नहीं कहा है, किन्तु तेरी स्वतन्त्र बुद्धि का सम्मान बढ़े, इसलिए कहा है। ठीक-ठीक निर्णय करने में तू भूल न करे, इसलिए कहा है[1]।"

: १२ : संघ-व्यवस्था

भगवान् महावीर के समय १४ हजार साधु और ३६ हजार साध्वियाँ थीं। ९ गण और ११ गणधर थे। उनकी सामाचारी एक थी। उनका विभाजन व्यवस्था की दृष्टि से था। प्राचीन समय में साधु-संघ में सात पद थे—

(१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) गणी (४) गणावच्छेदक (५) स्थविर (६) प्रवर्तक (७) प्रवर्तिनी

इनके द्वारा हजारों-हजारों साधु-साध्वियों का कार्य-संचालन होता था। इनमें आचार्य का स्थान सर्वोपरि है। उपाध्याय का काम है संघ में शिक्षा का प्रसार करना, प्रवचन अविछिन्न रहे वैसी व्यवस्था करना।

गणी—मुनि-गण का व्यवस्थापक।

गणावच्छेदक—गच्छ के विकास के लिए साधुओं की मण्डली को साथ लेकर गाँव-गाँव विहरने वाला और उनके संयम का ध्यान रखने वाला।

स्थविर—बड़ी उम्र वाला विशेष अनुभवी मुनि।

प्रवर्तक—संयम की शुद्धि और अभ्यास के लिए प्रेरणा देने वाला।

प्रवर्तिनी—साध्वियों की व्यवस्था करने वाली साध्वी।

एक व्यक्ति ने पूछा—आपके उपाध्याय कौन हैं ?

आचार्य भिक्षु ने उत्तर दिया—कोई नहीं।

उसने कहा—तो उपाध्याय के बिना संघ पूर्ण कैसे होगा ?

आचार्य भिक्षु ने उत्तर दिया—संघ पूर्ण है। सातों पदों का काम मैं अकेला देख रहा हूँ।

आचार्य और उपाध्याय एक होते थे—ऐसा प्राचीन साहित्य में मिलता है। आचार्य साधुओं को अर्थ पढ़ाते और उपाध्याय सूत्र पढ़ाते। जिन शिष्यों को अर्थ पढ़ाते उनके लिए वे आचार्य होते और जिन्हें सूत्र-पाठ पढ़ाते उनके लिए वे ही उपाध्याय होते—इस प्रकार एक ही व्यक्ति किसी के लिए आचार्य और किसी के लिए उपाध्याय होते[2]।

१-दृष्टान्त १६६

२-स्थानांग वृत्ति ५।२।४३८

ओघ निर्युक्ति के अनुसार यह कोई आवश्यक नहीं कि आचार्य और उपाध्याय भिन्न ही हों। एक ही व्यक्ति शिष्यों को अर्थ और सूत्र दोनों दे सकता है और वह आचार्य और उपाध्याय दोनों हो सकता है[1]। इससे जान पड़ता है कि एक ही व्यक्ति के आचार्य और उपाध्याय होने की परम्परा पुरानी है। पर सातों पदों का काम एक ही व्यक्ति करे वह नई परम्परा है। इसका सूत्रपात आचार्य भिक्षु ने किया।

यह प्रथम दर्शन में कुछ अटपटा सा लगता है। दूसरों के अधिकारों पर प्रहार और व्यक्तिवाद को बढ़ावा देने वाला कार्य सा लगता है। थोड़े चिन्तन के बाद स्थिति ऐसी नहीं रहती। अधिकार का प्रश्न राज्य-शासन में होता है। धर्म-शासन में केवल धर्म-पालन का ही प्रश्न होता है। जो मुनि बनते हैं वे आचार्य, उपाध्याय आदि आदि पद पर बनने के लिए नहीं बनते। वे आत्म-साधना के लिए मुनि बनते हैं। जहाँ आत्म-साधना गौण और पद-साधना प्रधान बन जाती है, वहाँ मुनित्व ढोंग बन जाता है। जहाँ साधना आत्मा की होती है और पद का काम जिसे करना हो वह करे, वहाँ साधना प्रधान और सर्वोपरि अभिलषणीय तथा पद गौण बन जाता है। जिस साधु संघ में पद का प्रश्न सर्वोपरि होता है वह प्राणहीन बन जाता है। पद और प्रतिष्ठा की भूख कोई नई बीमारी नहीं है। यह शाश्वत-सी है। इसका समूल-उन्मूलन होना तो बहुत ही कठिन है। इतना अवश्य होता है कि परिस्थिति की उत्तेजना मिलती है, तो यह बढ़ जाती है और उसकी उत्तेजना न मिलने पर वह शान्त रहती है।

आचार्य भिक्षु ने ऐसी व्यवस्था की, जिससे किसी भी साधु को आचार्य पद की भूख रखने का अवसर ही न मिले।

उन्होंने लिखा—"वर्तमान आचार्य की इच्छा हो तब वह गुरु-भाई अथवा अपने शिष्य को अपना उत्तराधिकारी चुने, उसे सब साधु-साध्वियाँ आचार्य मान लें। सब साधु-साध्वियाँ एक ही आचार्य की आज्ञा में रहें। यह परम्परा मैंने की है[2]।"

इस मर्यादा का तेरापंथ के आत्मार्थी साधु-साध्वियों ने बहुत ही आन्तरिकता से पालन किया है। आचार्य श्रीतुलसी नवमें आचार्य हैं। इन्हें इनके पूर्ववर्ती आचार्य पूज्य प्रवर कालूगणी ने २२ वर्ष की अवस्था में अपना

१-नावश्यमाचार्योपाध्यायै भिन्नैर्भवितव्यम्;
अपितु कश्चिद् सावेव सूत्रं शिष्येभयः प्रयच्छत्य सावेव चार्थम्।
—ओघ० वृ० प० ३

२-लिखित १८३२

उत्तराधिकारी चुना। इस समय पांच सौ के लगभग साधु-साध्वियाँ थीं। उनमें वयः प्राप्त भी थे, विद्वान भी थे, सभी प्रकार के थे। यह आँखों देखा विवरण है कि आचार्य तुलसी को संघ ने वही सम्मान दिया, जो महान् तपस्वी पूर्ववर्ती आचार्य को देता था।

छट्ठे आचार्य माणकलालजी अपने उत्तराधिकारी का निर्वाचन नहीं कर सके। उनका अकस्मात् स्वर्गवास हो गया। फिर साधु-संघ मिला। सब साधुओं ने मुनि कालूजी को भार सौंपा। उन्होंने डालचन्दजी के नाम की घोषणा की। सब साधु-साध्वियों ने उन्हें अपना आचार्य स्वीकार कर लिया। हमारा इतिहास यह है कि आचार्य पद के लिए कभी कोई विवाद नहीं हुआ।

व्यवस्था आखिर व्यवस्था होती है। वह प्राणवान् साधना से बनती है। हमारे आचार्य और साधु जब तक साधना को अधिक महत्त्व देंगे, तब तक आचार्य पद का प्रश्न जटिल नहीं बनेगा। साधना के गौण होने पर जो होता है सो होता ही है।

आचार्य पद के निर्वाचन का प्रश्न जटिल न बने—इसका सम्बन्ध औरों की अपेक्षा आचार्य से अधिक है। आचार्य पद व्यक्तिवाद से जितना अस्पष्ट रह पाए, उतना ही वह विवादास्पद बनने से बचता रहेगा। साधु-साध्वियों से भी इसका सम्बन्ध न हो, ऐसा नहीं है। उनका दृष्टिकोण संघ की अपेक्षा अपना महत्त्व साधने में लग जाए तो आचार्य पद की समस्या जटिल बने बिना नहीं रह पाती। स्वार्थ की दृष्टि खुलते ही सामुदायिकता का रूप धुंधला दीखने लगता है।

: १३ : गण और गणी

आचार्य भिक्षु की व्यवस्था में गणी की अपेक्षा गण का स्थान महत्त्वपूर्ण है। गणी गण में से ही आते हैं। गण स्थायी है, गणी बदलते रहते हैं। वे गण के प्रति उत्तरदायी होते हैं। गण के प्रति जैसी निष्ठा एक साधु की होती है, वैसी ही गणी की होती है। वे गण की सुव्यवस्था के लिए होते हैं। गण न हो तो गणी का अर्थ ही क्या?

गण अवयवी है। गणी और साधु उसके अवयव हैं। गणी की तुलना पेट से की जाती है और साधु-साध्वियों की शेष अवयवों से। पेट से समूचे शरीर को पोष मिलता है, सभी अवयव उससे रस लेते हैं। सभी बीमारियां भी पेट से होती हैं। आचार्य की स्वस्थता सबसे अधिक अपेक्षित है। इसीलिए आचार्य

अपने उत्तराधिकारी के निर्वाचन में बहुत सूक्ष्मता से पर्यालोचन करते हैं। आचार्य के निर्वाचन में इन बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है—

(१) आचार-कुशलता (२) गण-निष्ठा (३) अनुशासन की क्षमता (४) दूसरों को साथ लिए चलने की योग्यता (५) ज्ञान और व्यावहारिक निपुणता।

वर्तमान आचार्य को विश्वास हो जाता है और वे अपनी आयु के अन्तिम समय के लगभग या उससे पहले भी जब उचित लगे, तब वे एक पत्र लिख निर्वाचित मुनि को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर देते हैं। आचार्य भिक्षु ने भारमलजी को अपना उत्तराधिकारी चुनते समय जो 'लिखत' लिखा, उसीको वर्तमान युवाचार्य का नाम जोड़ एक प्रति लिखी जाती है और उसमें वर्तमान के सभी साधु-साध्वियाँ अपने हस्ताक्षर देते हैं। यह कार्य उनकी सहर्ष स्वीकृति का सूचक होता है। वर्तमान आचार्य की उपस्थिति में युवाचार्य का कार्य, आचार्य जो आज्ञा दे उसीको क्रियान्वित करना होता है। आचार्य के स्वर्गवास होने के पश्चात् उनके सारे अधिकार युवाचार्य के हस्तगत हो जाते हैं। गण के द्वारा विधि पूर्वक 'एक पट्टोत्सव' मनाया जाता है और आचार्य का बहुत सम्मान किया जाता है। आचार्य का इतना सम्मान, मेरी कल्पना नहीं है, कहीं देखने को मिले। आचार्य गण के साधु-साध्वियों को उसी शरीर के अवयव मानते हैं। पेट और शेष अवयवों में संघर्ष हो तो समूचे शरीर को क्लेश होता है। आहार जुटाना पेट का काम नहीं है तो आहार को पचा कर पोष देना शेष अवयवों का काम नहीं है। दोनों अपना-अपना कार्य करते हैं तब शरीर स्वस्थ रहता है, शक्ति बढ़ती है और सौन्दर्य खिलता है। आचार्य भिक्षु की व्यवस्था का प्राण यह सापेक्षता ही है।

गणी का कार्य है, गण में समान आचार, समान विचार और समान परूपणा को बनाए रखना। आचार और परूपणा की समानता का मूल, विचारों की समानता है। जैसा विचार होता है वैसा आचार बनता है और वैसी ही परूपणा की जाती है। विचारों में अन्तर आता है तब आचार और परूपणा में भी भेद आ जाता है।

विचार समान कैसे हो? यह बहुत बड़ा प्रश्न है। सब आदमी एक ही प्रकार से कैसे सोचें? शरीर पर नियंत्रण हो सकता है, पर विचारों पर नियंत्रण कैसे हो? विचारों पर नियंत्रण किया जाय तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट होती है। विचारों को खुली छूट दी जाय तो एकता नष्ट होती है। ये दोनों अपूर्व हैं। साम्यवादी स्वतन्त्र-विचारों की अभिव्यक्ति पर नियंत्रण लगाते हैं तो जनतन्त्र में विचारों की उच्छृङ्खलता पूवक अभिव्यक्ति होती है।

दोनों ही दोषामुक्त नहीं हैं। विचारों की स्वतन्त्रता की हत्या न हो और उच्छृङ्खलता न बढ़े, एकता का धागा न टूटे इसलिये किसी तीसरी धारा की आवश्यकता है।

जहाँ सिद्धान्तवादिता कम होती है वहाँ विचार-भेद भी कम होता है। सिद्धान्तों की गहराई में विचारों के भेद पनपते रहते हैं। जैन-दर्शन सिद्धांत-वादी अधिक है। उसमें तत्वों की छानबीन बड़ी सूक्ष्मता से की गई है। अहिंसा और संयम की ऐसी सूक्ष्म रेखाएँ हैं कि जिनसे थोड़े में ही विचार-भेद की सृष्टि हो जाती है। इसके साथ अनेकान्त-दृष्टि जुड़ी हुई है। वह नहीं होती तो विवाद सीमा पार कर जाता। अनेकान्त का ठीक ठीक उपयोग किया जाय तो विवाद खड़े भी न हों और कदाचित् हो भी जायँ तो वे सहसा मिट जायँ। पर उसका उपयोग बहुत कम किया जाता है।

जैनधर्म की सम्प्रदायों का इतिहास देखिये। उनकी स्थापना के मूल में जितना एकान्त है, उतना अनेकान्त नहीं है। सम्प्रदाय बहुत हैं, यह कोई बहुत बड़ा दोष नहीं है। सम्प्रदायों में अनेकता बहुत है, यह बड़ा दोष है। वीर निर्माण के पश्चात् शताब्दियों तक संघ में एकता रही। यद्यपि व्यवस्था की दृष्टि से कुल और गण अनेक थे। पर संघ एक था। वीर निर्माण की दसवीं शती या देवार्धि गणी के पश्चात् संघ की एकता विछिन्न-सी होती गई। वर्तमान में केवल सम्प्रदाय हैं। संघ जैसी वस्तु आज नहीं है। पहले जो स्थिति संघ की थी, वही आगे चल कर सम्प्रदायों की होने लगी। एक ही सम्प्रदाय में अनेक मत और अनेक परम्पराएँ स्थापित होने लगीं।

जैनों में आपसी मत-भेद होने का मुख्य कारण आगम हैं। उनकी धार्मिक मान्यता का सर्वोपरि आधार आगम है। दिगम्बर जैन कहते हैं—आगम लुप्त हो गए। श्वेताम्बर जैन कहते हैं—कुछ आगम लुप्त हो गए और कुछ आगम अभी भी विद्यमान हैं। कुछ श्वेताम्बर सम्प्रदाय ४५ आगमों को और कुछ ३२ आगमों को प्रमाण मानते हैं। ४५ को प्रमाण मानने वालों में भी मतैक्य नहीं है और मतैक्य उनके भी नहीं है जो ३२ को प्रमाण मानते हैं। इसका कारण भी कोई बहुत गहराई में नहीं है। आगम स्वयं अर्थ नहीं देते। वे अपनी अपेक्षाओं को खोल कर हमारे सामने नहीं रख देते। उनका अर्थ करने वाले हम ही होते हैं। उनकी अपेक्षाओं का निर्णय भी हम ही करते हैं। अन्तिम निर्णय हमारी ही बुद्धि करती है। हम अपनी बुद्धि द्वारा जिस सूत्र-पाठ की जैसे संगति बिठा सकते हैं, उसे उसी रूप में मान्य करते हैं।

शब्द-ज्ञान को प्रमाण मानने में लाभ यह है कि उससे हमारे उच्छृङ्खल तर्क पर एक अंकुश लग जाता है। बहुश्रुतों द्वारा संचित ज्ञान-राशि से हमें अपूर्व आलोक मिलता है। हेयोपादेय का अपूर्व चिन्तन मिलता है। और वह सब कुछ मिलता है, जो साधना के लिए एक साधक को चाहिए। किन्तु पाने वाला केवल प्रकाश ही नहीं पाता, कुछ न कुछ अन्धकार भी पाता है। ज्ञान-राशि में अन्धकार नहीं होता। हम कोरे ज्ञान को नहीं लेते, आगम के आशय को नहीं लेते, साथ-साथ शब्दों को भी पकड़ते हैं और शब्दों की पकड़ जितनी मजबूत होती है, उतनी आशय की होती ही नहीं। चतुर्मास में मुनि को एक जगह रहना चाहिए, यह आगमिक विधान है। वर्षाकाल में हरियाली और जीव-जन्तु अधिक उत्पन्न होते हैं, मार्ग जल से भर जाते हैं, पानी गिरता है—इन कारणों से चतुर्मास में विहार करने का निषेध है। दक्षिण भारत में कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ कार्तिक के पश्चात् बरसात शुरू होती है। आशय को पकड़ा जाय तो वहाँ चतुर्मास शरद् और हेमन्त में होना चाहिए। किन्तु शब्दों की पकड़ ऐसा नहीं होने देती। शब्दों को पकड़ कर विचार-भेद खड़ा कर देने की समस्या नई नहीं है। इसका सामना सभी को करना पड़ा है। इसके द्वारा अनेकता भी उत्पन्न हुई है। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ की व्यवस्था को इस अनेकता के दोष से बचाना चाहा। उन्होंने लिखा है—"किसी साधु का आचार, श्रद्धा, सूत्र या काल सम्बन्धी किसी विषय की समझ न पड़े तो वह, आचार्य तथा बहुश्रुत साधु कहे, उसे मान ले। उनके समझाने पर भी बुद्धि में न बैठे तो उसे केवली-गम्य कर दे। किन्तु दूसरे साधुओं को सन्देह में डालने का यत्न न करे[1]।

श्रद्धा या आचार का कोई नया विषय ध्यान में आए तो उसे बड़ों के सामने चर्चा जाए, औरों से न चर्चा जाए। औरों से उसकी चर्चा कर उन्हें सन्देह में डालने का यत्न न किया जाय। बड़े जो उत्तर दें, वह अपने हृदय में बैठे तो मान लिया जाय और यदि न बैठे तो उसे केवली-गम्य कर दिया जाय। पर उसकी खींचतान बढ़ाकर गण में भेद न डाला जाय[2]।

आचार्य भिक्षु का यह विधान संघ की एकता को अक्षुण्ण रखने का अमोघ उपाय है। वास्तविक सत्य क्या है? इसका समाधान हमारी बुद्धि के पास नहीं है। हम व्यावहारिक सत्य के आधार पर ही सारा कार्य चलाते हैं। हमने जो निर्णय किया वही अन्तिम सत्य है—इतना आग्रह रखने जैसा सुदृढ़ साधन हमें उपलब्ध नहीं है।

१-लिखित १८४५
२-लिखित १८५०

व्यावहारिक सत्य की स्वरूप-मीमांसा कविवर प्रसाद ने बड़े प्राञ्जल ढंग से की है—

"और सत्य यह एक शब्द तू
कितना गहन हुआ है
मेधा के क्रीड़ा पञ्जर का
पाला हुआ सुआ है
सब बातों में खोज तुम्हारी
रट-सी लगी हुई है
किन्तु स्पर्श यदि करते हम
बनता छुइमुई है।"

हम जिसे सत्य मानते हैं, सम्भव है वह सत्य न भी हो, हम जिसे सत्य नहीं मानते, सम्भव है वह सत्य हो। सीमित शब्दों में अनन्त सत्य को बाँधना भी कठिन है और उसे सीमित बुद्धि द्वारा पकड़ना तो और भी अधिक कठिन है। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने कहा—"हम जो कर रहे हैं वह उत्तरवर्ती आचार्यों को सही लगे तो करें और सही न लगे तो वह उसे छोड़ दें[1]।"

इस उक्ति के अधार पर अनेक परिवर्तन भी हुए। कुछ लोगों ने प्रश्न उपस्थित किया कि प्रचलित परम्परा में परिवर्तन जो किया है, उसका अर्थ यह हुआ कि या तो वे सही नहीं थे या आप सही नहीं हैं, या तो उनकी मान्यता सही नहीं थी या आपकी सही नहीं है? इसका समाधान इन शब्दों में किया जाता रहा है—"पूर्ववर्ती आचार्यों ने जो किया, उसे उन्होंने व्यवहार सत्य की दृष्टि से सही मान कर किया, इसलिए वे भी सही हैं और अभी हम जो कर रहे हैं, उसे भी व्यवहार-सत्य की दृष्टि से सही समझ कर कर रहे हैं, इसलिए हम भी सही हैं। उनकी सत्य-निष्ठा में हमें विश्वास है, इसलिए हमारी दृष्टि से भी वे सही हैं और हमारी सत्य-निष्ठा में उनको विश्वास था, तभी तो उन्होंने हमें यह अधिकार दिया, इसलिए उनकी दृष्टि से हम सही हैं।

सत्य पूर्ववर्ती आचार्यों या साधुओं की पकड़ में ही आ सकता है, यह भी कोई महत्त्व की बात नहीं है और वह आधुनिक आचार्यों या साधुओं की पकड़ में नहीं आ सकता, इसका भी कोई महत्त्व नहीं है। जो सत्य पहले नहीं पकड़ा गया, वह आज पकड़ा जा सकता है और जो आज नहीं पकड़ा गया वह पहले

१-कंवाड़यांरी ढाल ५१ :

मोनें तो कवाड्यां रो दोष न भासें, जाणें नें सुध ववहार।
जे निसंक दोष कवाड्यां में जांणों, ते मत वहरजो लिगार रे॥

पकड़ा गया है। यह विरोध नहीं है। यह सापेक्षता है। ज्ञान, बौद्धिक—निर्मलता, चारित्रिक—विशुद्धि, दृष्टि-सम्पन्नता और साधन-सामग्री अधिक उपलब्ध होते हैं तो सत्य के निकट पहुँचने में सुलभता होती है और इनकी उपलब्धि कम हो तो उसके निकट पहुँचना दुर्लभ होता है। इनकी उपलब्धि किसी समय में सबों की होती है, यह भी सच नहीं है और किसी समय में किसी की भी नहीं होती, यह भी सत्य से परे है। इस सारी वस्तु-स्थिति को ध्यान में रखकर आचार्य भिक्षु ने जो विधान किया है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और सैद्धान्तिक मतभेदों को तान-तान कर आग्रह के गढ़ों में गिरने से बचाता है।

इससे न तो विचार-स्वातन्त्र्य का हनन होता है और न आग्रह को वैसा बढ़ावा ही मिलता है, जिससे गण में कोई दरार पड़ सके।

इसका सारांश यह है कि मनुष्य अपने विचार को व्यवहार में सत्य मान कर चले, किन्तु उसका इतना आग्रह न रखे कि जिस से संगठन की एकता का भंग हो जाए।

जो सत्य लगता है उसे छोड़ा भी कैसे जाए और जो सत्य नहीं लगता उसे स्वीकार भी कैसे किया जाए—यह समस्या है और जटिलतम समस्या है। पर यह भी उतनी ही बड़ी समस्या है कि जिसे मैं सत्य मानता हूँ, वह सत्य ही है, इसका निर्णय मैं कैसे करता हूँ ? आखिर सीमित बुद्धि, सीमित साधनों और देश-काल की सीमित मर्यादाओं के द्वारा ही तो मैं उसे सत्य मान रहा हूँ। इसलिये इतना आग्रह कैसे रख सकता हूँ कि जो मैंने पाया वही अन्तिम सत्य है। जो व्यक्ति अकेला हो या अकेला रहना चाहता हो, वह फिर भी ऐसा आग्रह रख सकता है, किन्तु जो किसी समुदाय में रहना चाहे, और रहे, वह ऐसा आग्रह कैसे रखे ? उसके लिए ऋजुपन्था यह है कि बहुश्रुत साधुओं व आचार्य के सामने अपना विचार रख दे, फिर वे जो मार्ग सुझाएँ उसका अनुगमन करे।

यह विचार-स्वतन्त्रता का हनन नहीं है। यह सामञ्जस्य का मार्ग है। यह किसी स्वार्थ या मानसिक दुर्बलता से किया जाए तो वह दोष है। यह निर्देश तभी है, जब कि अपनी अपूर्णता और सत्य-शोध की विनम्र भावना से प्रेरित हो, किया जाए।

आचार्य भिक्षु ने अन्तिम निर्णायक आचार्य को माना है। फिर भी उन्होंने बहुश्रुत साधुओं को उचित स्थान दिया है। उन्होंने लिखा है—"किसी विषय को प्रामाणिक या अप्रामाणिक ठहराने का अवसर आए तो उसके लिए बहुश्रुत साधुओं को भी पूछा जाए [1]।"

१-लिखित १८३२

किसी साधारण बुद्धि वाले साधु के जैसे कोई विचार-भेद हो सकता है, वैसे बहुश्रुत साधुओं में भी विचार-भेद हो सकता है। सामान्य साधु के लिये यह निर्देश पर्याप्त हो सकता है कि वह बहुश्रुत के मार्ग का अनुगमन करे, किन्तु जब दो या अनेक बहुश्रुतों में परस्पर विचार-भेद हो जाए तब क्या किया जाए ?

इसके समाधान का पहला सोपान तो यह है कि वे बहुश्रुत साधु परस्पर में बातचीत कर, उस चर्चनीय विषय का समाधान ढूँढें, जैसा कि आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"कोई चर्चा या श्रद्धा का प्रश्न उपस्थित हो तो बहुश्रुत या बुद्धिमान साधु सोच-विचार कर उसका समाधान ढूँढ, सामञ्जस्य बिठायें। किसी विषय का सामञ्जस्य न बैठें तो खींचतान न करें, उसे केवली-गम्य कर दें, किन्तु अंश मात्र भी खींचतान न करें[1]।

इससे भी काम पूरा न हो तो फिर आचार्य जो निर्णय दें, उसे मान्य कर लें। आचार्य भिक्षु ने इस विषय की, अपने अनेक मर्यादा पत्रों में चर्चा की है। उसका उद्देश्य विचार-स्वातन्त्र्य का लोप करना नहीं है। उसका उद्देश्य है, विचारों के संघर्ष को उपशान्त किये रखना। वैचारिक-पराधीनता जैसे अच्छी बात नहीं है, वैसे ही वैचारिक-संघर्ष भी अच्छा नहीं है। अच्छी बात है, मन की शान्ति। और शान्ति में से ही अच्छे विचार निकलते हैं।

जिसका मन दूसरों को शंकाशील बना कर अपने गुट में लेने का होता है, जो गण में भेद डाल अपना नया गण खड़ा करना चाहता है, यह सब अशान्त मन की प्रतिक्रिया है। आचार्य भिक्षु इसको रोकना चाहते थे। इसलिये उन्होंने पुनरुक्ति का विचार किये बिना बार-बार इसे दोहराया—"कोई श्रद्धा या आचार का नया विषय निकल आए तो उसकी चर्चा बड़ों से की जाय पर औरों से न की जाय। औरों से उसकी चर्चा कर उनको संदिग्ध न बनाया जाय। बड़े जो उत्तर दें वह अपने हृदय में बैठे तो उसे मान लिया जाय और न बैठे तो उसे केवली-गम्य कर दिया जाय। पर उस विवादास्पद विषय को लेकर गण में भेद न डाला जाय[2]।

समूचे का सारांश इतना है—"अपने विचारों का ऐकान्तिक आग्रह सामान्य साधु भी न करे, बहुश्रुत साधु भी न करे और आचार्य भी न करे।" तर्क की पूँछ को बहुत लम्बी न बनाए। सामान्य साधु बहुश्रुत व आचार्य पर विश्वास करे और आचार्य बहुश्रुतों की बात पर समुचित ध्यान दें। इस

१-लिखित १८५९

२-लिखि १८५०

प्रकार यह एक ऐसी शृङ्खला गूँथी है, जिसमें न कोई पूरा स्वतन्त्र है और न कोई पूरा परतन्त्र स्वतन्त्रता उतनी ही है कि जिससे साधना का मार्ग अवरुद्ध न हो और परतन्त्रता उतनी है जिससे साथ में रहने में बाधा उत्पन्न न हो। गण की शक्ति, सौहार्द और विकास का पथ अवरुद्ध न हो।

: १४ : निर्णायकता के केन्द्र

शास्त्रों में 'आचार्य' शब्द के अनेक निरुक्त और परिभाषाएँ हैं। उनके पीछे अनेक अभिप्राय और अनेक कल्पनाएँ हैं।

कुछ वर्ष पहले मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर मैंने एक कविता लिखी। उसमें आचार्य की परिभाषा इन शब्दों में है—

तू जो कहता सत्य नहीं है, मैं कहता हूँ सत्य वही है।
'तूं' 'मैं' के इस झगड़े का जो, शान्ति-पाठ आचार्य वही है॥

संगठन की दृष्टि से यह परिभाषा मुझे बहुत अच्छी लगी। परिभाषा की सूझ मेरी नहीं है। मेरी अपनी वस्तु केवल कविता की पंक्तियाँ हैं। यह मौलिक-तत्त्व आचार्य भिक्षु और उनके महान् भाष्याकार जयाचार्य से मिला।

जहाँ संगठन होता है, वहाँ अनेक व्यक्ति होते हैं और जहाँ अनेक व्यक्ति हैं, वहाँ अनेक विचार होते हैं। अनेक विचार संगठन को एक कैसे बनाए रख सकते हैं?

संगठन आचार और विचार की एकरूपता के आधार पर ही टिक सकता है। जितने व्यक्ति, उतने ही प्रकार के आकार—यह स्थिति संगठन के अनुकूल नहीं होती। व्यक्तिगत विचारों की स्वतन्त्रता होती है और वह होनी ही चाहिए, किन्तु उसकी भी एक सीमा है। जैसे एक व्यक्ति अपने विचारों के लिये स्वतन्त्र है वैसे दूसरा भी है। वैयक्तिक स्थिति में ऐसा हो सकता है। पर मिल कर चलने की स्थिति में ऐसा नहीं हो सकता।

संगठन व्यवहारिक होता है। व्यवहार की स्थिति का अनुमापन व्यवहार से ही होता है। वहाँ विचारों पर अंकुश नहीं लगता, किन्तु एकरूपता में खलल डालने वाले विचार पर नियंत्रण अवश्य होता है। इसे भले ही संगठन की दुर्बलता माना जाए। पर यह किसी एक व्यक्ति की दुर्बलता नहीं है। जिन्होंने संगठन करना चाहा है, उन्होंने यह भी चाहा है कि हम एक रूप रहें। इस एकरूपता की चाह में से ही यह तत्त्व प्रगट होता है कि उसमें बाधा डालने वाले विचारों पर नियंत्रण रहे। साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कोरी एकरूपता भी अभीष्ट नहीं है। मूल सूखने लगे तब ऊपरी सौन्दर्य

का मूल्य ही क्या है और वह टिकता भी कब है ? सत्य, आचार और संयम की निष्ठा बनी रहे, उसी स्थिति में संगठन का महत्त्व है और उसी स्थिति में इसका महत्त्व है कि साधारण सी बातों को लेकर अनेकता का बीज न बोया जाए। कोई नया विचार आए तो उसका प्रयोग संघ या संघपति—जहाँ निर्णायकता केन्द्रित हो, उन्हीं की स्वीकृत से किया जाए।

एकतन्त्रीय अनुशासन में निर्णायक एक होता है और बहुतन्त्र में कुछेक। सबके सब निर्णायक कहीं भी नहीं होते। एकतन्त्र में एक के सामने निन्यानवें की उपेक्षा हो सकती है और बहुतन्त्र में ५१ के सामने ४६ की। सर्व सम्मति के निर्णय की स्थिति श्रद्धा ही है। विचार, तर्क या बुद्धि के प्रवाह से वह स्थिति नहीं बनती। श्रद्धा का अर्थ है आग्रहहीनता, नम्रता और सत्य-शोध की सतत् साधना। सत्य का शोधक कभी भी आग्रही नहीं होता। वह अपने विश्वास को दृढ़ता के साथ निभाता है, फिर भी नम्रता को नहीं छोड़ता।

व्यक्ति-व्यक्ति की रुचि विचित्र होती है। संस्कार भी अपने निराले होते हैं। अधिकांश व्यक्ति अपने रुचि और संस्कारों को जितना महत्त्व देते हैं, उतना वस्तु-स्थिति को नहीं देते। परन्तु साधना का मार्ग संस्कारों से ऊपर उठकर चलने का है। श्रद्धा की यही विशेषता है कि उसमें सारी शंकाएँ लीन हो जाती हैं। नदियां कहीं सीधी चलती हैं और कहीं टेढी। आखिर वे समुद्र के गर्भ में लीन हो जाती हैं। विचारों के प्रवाह कहीं ऋजु होते हैं और कहीं वक्र। आखिर वे आचार्य के निर्णय में लीन हो जाते हैं। यही है आचार्य भिक्षु की मर्यादा का महातम्य।

"रुचिनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिल नानापथ जुषां नृणामे कोगम्यस्त्वमसि पयसा भावि इव।"

दार्शनिक-कवि की वाणी में अद्वैत का जो काल्पनिक-चित्र है उसे आचार्य भिक्षु ने साकार बना दिया। उनकी मर्यादवलि के अनुसार आचार्य सबके गम्य बन गए।

: १५ : गण में कौन रहे ?

सम-विचार, आचार और निरूपणा के प्रकार में जिन्हें विश्वास होता है वे गण के सदस्य होते हैं। गण किसी एक-दो से नहीं बनता। वह अनेकों की सम-जीवन-परिपाटी से बनता है। गण तब बनता है, जब एक दूसरे में विश्वास हो। गण तब बनता है, जब एक दूसरे में आत्मीयता हो। गण तब बनता है, जब सब में ध्येय की निष्ठा हो।

आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"सब साधु शुद्ध आचार का पालन करें और परस्पर में प्रगाढ़ प्रेम रखें[1] ।"

प्रेम परस्पर में रखना चाहिए—यह इष्ट बात है। इसका उपदेश देना भी इष्ट है। पर इष्ट की उपलब्धि कैसे हो? आचार्य भिक्षु ने उसके कई मार्ग सुझाए हैं। लिखा है—

(१) साधु गण के साधु-साध्वियों को साधु माने।
(२) अपने आपको भी साधु माने, वह गण में रहे।
(३) कपट पूर्वक गण में साधुओं के साथ न रहे।
(४) साधु नाम धरा कर असाधुओं के साथ रहना अनुचित है।
(५) जिसका मन शुद्ध हो वह ऐसा विश्वास दिलाए।
(६) वह गण के किसी भी साधु-साध्वी का अवगुण बोलने का, आपस में एक-दूसरे के मन में भेद डालने का, एक-दूसरे को असाधु मनवाने का त्याग करे।[2]
(७) मेरी इच्छा होगी तब तक गण में बैठा हूँ, इच्छा नहीं होगी तब यहाँ से चला जाऊँगा—इस अनास्था से गण में न रहे।
(८) संकोचवश गण में न रहे[3] ।

इसमें गण, गणी और गण के सभी सदस्यों के प्रति और अपने प्रति भी आस्था की अभिव्यञ्जना है। जिसकी ऐसी आस्था होती है, वह दूसरों का प्रेम ले सकता है और अपना प्रेम दूसरों को दे सकता है। प्रेम तभी टूटता है जब एक-दूसरे में अनास्था का भाव होता है।

: १६ : गण में किसे रखा जाए ?

योग्यता और अयोग्यता का अंकन कई दृष्टियों से होता है। स्वस्थ व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से योग्य होता है और अस्वस्थ व्यक्ति अयोग्य। बौद्धिक योग्यता किसी में होती है, किसी में नहीं होती। कोमल प्रकृति वाला व्यक्ति स्वभाव से योग्य होता है और कठोर प्रकृति वाला अयोग्य।

शारीरिक अशक्ति की स्थिति में दूसरों को कष्ट होता है पर सेवा का कष्ट शारीरिक है। वह वस्तुतः कष्ट नहीं, श्रम है।

१-लिखित १८५०

२-लिखित १८५०

३-लिखित १८४५

बौद्धिक योग्यता हो तो बहुत लाभ होता है। वह न हो तो उतना लाभ नहीं होता, पर उससे किसीको क्लेश भी नहीं होता।

स्वभाव की चण्डता जो है वह दूसरों में क्लेश उत्पन्न करती है।

आचार्य भिक्षु ने शारीरिक अयोग्यता वाले व्यक्ति को गण में रखने योग्य बतलाया है। उन्होंने वैसे व्यक्ति को गण में रखने के अयोग्य बतलाया है, जो अपने स्वभाव पर नियंत्रण न रख सके। उन्होंने लिखा है—

(१) कोई साधु रुग्ण हो या बूढ़ा हो तब दूसरे साधु अग्लान भाव से वैयावृत्य—सेवा करें।

(२) उसे संलेखना—विशिष्ट तपस्या करने को न उकसायें।

(३) वह विहार करना चाहे और उसकी आँखें दुर्बल हों तो दूसरा साधु उसे देख-देख चलाए।

(४) वह रुग्ण हो तो उसका बोझ दूसरे साधु लें।

(५) उसका मन चढ़ता रहे वैसा कार्य करें।

(६) उसमें साधुपन हो तो उसे 'छेह' न दें—छोड़ें नहीं।

(७) वह अपनी स्वतन्त्र भावना से वैराग्य पूर्वक संलेखना करना चाहे तो उसे सहयोग दें, उसकी सेवा करें।

(८) कदाचित् एक साधु उसकी सेवा करने में अपने को असमर्थ मानें तो सभी साधु अनुक्रम से उसकी सेवा करें।

(९) कोई न करे तो उसे टोका जाए, और उससे कराई जाए।

(१०) रुग्ण साधु को सब साधु इकट्ठे होकर कहें, वह आहार दिया जाए।

(११) किसी साधु का स्वभाव अयोग्य हो, जिसे कोई निभा न सके, जिसे कोई साथ न ले जाए, तब उसे विनम्र व्यवहार करना चाहिए। बड़े साधु जैसे चलाएँ वैसे चले। जो विनम्र व्यवहार में न लग सके तो वह तपस्या में लग जाए। इन दोनों में से कोई कार्य न करे तो उसके साथ फिर कौन क्लेश करता रहेगा?

(१२) रोगी की अपेक्षा स्वभाव का अयोग्य अधिक दुःखदायी होता है। उसे गण में रखना अच्छा नहीं है।

(१३) जो मर्यादाओं को स्वीकार करे उसे गण में रखा जाए[1]।

योग्य व्यक्ति गण में होते हैं, उससे गण की शोभा बढ़ती है और साधना का पथ भी सरल बनता है। अयोग्य व्यक्ति में साधना का भाव नहीं होता,

---

१-लिखित १८४५

अपनी प्रकृति पर वह नियंत्रण करना नहीं चाहता या कर नहीं पाता। उससे गण की अवहेलना होती है और दूसरों को भी बुरा बनने का अवसर मिलता है। कुछ व्यक्ति निसर्ग से ही अयोग्य होते हैं और कुछेक अपने अपने पर नियंत्रण न रखने के कारण अयोग्य बन जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने उन कारणों का उल्लेख किया है जिनसे अयोग्यता आती है और बढ़ती है। उनकी वाणी है—"शिष्यो ! कपड़ों और सुख-सुविधा मिले, वैसे गाँवों की ममता कर बहुत जीव चरित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं[1]।"

कुछ कारण ऐसे होते हैं कि किसी साधु को गण से पृथक् करना पड़ता है और कुछ प्रसंगों में कुछ साधु स्वयं ही गण से पृथक हो जाते हैं।

अकल्पनीय कार्य करने वाले साधु को गण से पृथक् करने की विधि बहुत ही प्राचीन है[2]। दीक्षित करने का अधिकार जैसे मूलतः आचार्य के हाथों में है, वैसे ही किसी को गण से पृथक करने का अधिकार भी आचार्य के हाथों में है। परम्परा यह हो गई है कि पहले कोई व्यक्ति योग्य जान पड़ता तो साधु उसे दीक्षित कर लेते, पर अब ऐसा नहीं होता। गण से पृथक करने का अधिकार इससे अधिक व्यापक है। कोई साधु गण की मर्यादा के प्रतिकूल चले तो उसे गण से पृथक् करने का अधिकार सबको है। ऐसे भी प्रसङ्ग आए हैं कि गृहस्थों ने भी साधुओं को गण से पृथक् कर दिया। परन्तु इस कार्य में विवेक की बहुत आवश्यकता है। अधिकार होने पर भी उपयोग वही करता है और करना चाहिए कि जो परिस्थिति का सही-सही अंकन कर सके। कोई व्यक्ति जैन-मुनि बनता है वह बहुत बड़ी बात है। मुनि कुछेक वर्षों के लिये नहीं बनता, उसे जीवन भर मुनि-धर्म का पालन करना होता है। गृहस्थ जीवन से उसके सारे सम्बन्ध छूट जाते हैं। उसके पास भावी जीवन की कोई निधि नहीं होती। वह निरालम्ब मार्ग में ही चलता है। वैसी स्थिति में पूर्ण चिन्तन किये बिना किसी को गण से पृथक् कर देना न्याय नहीं होता। इसलिए सामान्य स्थिति में इस विषय में अधिकार का उपयोग करने से पूर्व आचार्य की सहमति प्राप्त करना अपेक्षित-सा लगता है। गण से स्वयं पृथक् होने के भी अनेक कारण हैं। कुछ कारणों का उल्लेख आचार्य भिक्षु ने किया है। जैसे—

(१) कोई साधुपन का पालन न कर सके।

(२) किसी भी साधु से स्वभाव न मिले।

१-लिखित १८३२

२-स्थानाङ्ग ३।१७३

(३) क्रोधी या ढीठ जानकर कोई भी अपने पास न रखे।

(४) विहार करने के लिए सुविधाजनक गाँव में न भेजा जाए।

(५) कपड़ा मन चाहा न दिया जाए।

(६) अयोग्य जान कर दूसरे साधु मुझे गण से पृथक करने वाले हैं—ऐसा मालूम हो जाए।

ये, और ऐसे और भी अनेक कारण हैं, जिनसे प्रभावित होकर कोई साधु गण से पृथक हो जाता है[1]।

: १७ : पृथक् होते समय

साधु जीवन साधना का जीवन है। उसमें बल से कुछ भी नहीं होता। साधना हृदय की पूर्ण स्वतन्त्रता से ही हो सकती है। आचार्य साधुओं पर अनुशासन करते हैं पर तभी, जबकि साधु ऐसा चाहें। मार्गदर्शन या शिक्षा प्रार्थी को दी जाती है। कोई प्रार्थी ही न हो तो उसे कौन क्या मार्ग दिखाए और कौन क्या सीख दे? शिष्य आचार्य के अनुशासन का प्रार्थी होता है। इसलिए आचार्य उसे अनुशासन देते हैं। जब वह प्रार्थी न रहे तब आचार्य भी अपना हाथ खींच लेते हैं। फिर वह स्वतन्त्र है, जहाँ चाहे वहाँ रहे और जो चाहे सो करे। गण से पृथक् होने का यही अर्थ है।

आचार्य भिक्षु ने इसके लिए भी कुछ निर्देश दिये हैं। उनके अभिमत में गण से पृथक् होते समय और होने के पश्चात् भी कुछ शिष्टताओं का पालन करना चाहिए। उन्होंने लिखा है—

(१) किसी का मन गण से उचट जाए अथवा किसी से साधु-जीवन न निभे, उस समय वह गण से पृथक् हो तो किसी दूसरे साधु को साथ न ले जाए।

(२) किसी को शिष्य बनाने के लिए गण से पृथक् हो तो शिष्य बना कर नया मार्ग या नया सम्प्रदाय न चलाए।

(३) गण से पृथक् होने का मन हो जाने पर गृहस्थों के सामने दूसरे साधुओं की निन्दा न करे।

(४) गण में रह कर ग्रन्थों की प्रतिलिपियां करे या कराए अथवा किसी के पास से ले, वे तब तक ही उसकी हैं जब तक गण में रहे। गण से पृथक् होने के समय उन्हें साथ न ले जाए। क्योंकि वे सब गण के साधुओं की 'निश्रा' में हैं।

(५) कोई पुस्तक आदि गृहस्थों से ले, उन्हें आचार्य की, गण की 'निश्रा'

१-लिखित १८५०

में ले, अपनी 'निश्रा' में न ले। अनजान में कोई ले भी ले तो वे पुस्तक-पन्ने आचार्य के हैं, गण के हैं, उन्हें गण से पृथक् होते समय साथ न ले जाए।

(६) पात्र आदि भी गण में रहता हुआ ले, वे भी आचार्य व गण की 'निश्रा' में ले, आचार्य दे वह ले। गण से पृथक् होते समय उसे साथ न ले जाए।

(७) नया कपड़ा ले, वह भी आचार्य व गण की 'निश्रा' में ले। गण से पृथक् होते समय उसे साथ न ले जाए[1]।

(८) गण से पृथक् होने के पश्चात् गण के साधु-साध्वियों के अवगुण न बोले।

(९) शंका बढ़े, आस्था घटे वैसी बात न कहे।

(१०) गण में से किसी साधु को फंटा कर साथ न ले जाए, वह आए तो भी न ले जाए[2]।

(११) गण से पृथक् कर देने पर या स्वयं हो जाने पर वहाँ न रहे, जहाँ इस गण के अनुयायी रहते हैं। चलते-चलते मार्ग में वह गाँव आ जाए तो एक रात से अधिक न रहे। कारण विशेष में रहे तो, 'विगय' न खाए।

कोई पूछे यह निषेध क्यों, तो उसका कारण आचार्य भिक्षु ने इन शब्दों में बताया है—

"राग-द्वेष और क्लेश बढ़ने तथा उपकार घटने की सम्भावना को ध्यान में रख कर ऐसा किया है।"

(१२) गण से पृथक् होते समय एक पुराना 'चोलपट्टा', एक 'पछेवड़ी', चद्दर, मुखवस्त्रिका, पुराने कपड़े और पुराना रजोहरण—इनके सिवाय और कोई उपकरण या पुस्तक साथ में न ले जाए[3]।

इन निर्देशों में सामुदायिक जीवन प्रणाली की एक स्पष्ट रूपरेखा है। आचार्य भिक्षु ने जितना बल संविभाग पर दिया है उतना ही बल प्रत्येक धर्मोपकरण के संघीयकरण पर दिया है। साधु किसी भी धर्मोपकरण पर ममत्व न रखे—यह आगमिक सिद्धान्त है। इसे उन्होंने व्यवस्था के द्वारा व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

: १८ : गुटबंदी

साधना और गुटबंदी का भला क्या मेल! गुटबंदी वे करते हैं, जिन्हें अधिकार हथियाना हो। गुटबंदी वे करते हैं, जिन्हें सत्ता हथियानी हो।

१-लिखित १८५०
२-लिखित १८४५
३-लिखित १८५६

साधना धर्म है। जहाँ धर्म होता है वहाँ न अधिकार होता है और न सत्ता। फिर भी समुदाय आखिर समुदाय है। यह गुटबंदी की परिस्थिति है।

जिनके विचार और स्वार्थ एक रेखा पर पहुँचते हैं वे स्नेह-सूत्र में बँध जाते हैं और परमार्थ को कुछ विस्मृत सा कर देते हैं। साधु-संघ में गुटबंदी के कारण जो बनते हैं उनका उल्लेख आचार्य भिक्षु ने किया है—

"किसी साधु को विहार-क्षेत्र साधारण सा सौंपा गया अथवा कपड़ा साधारण दिया गया—इन कारणों तथा ऐसे ही दूसरे कारणों से कुपित होकर वे आचार्य की निन्दा करते हैं, अवगुण बोलते हैं, परस्पर मिल कर गुटबंदी करते हैं[१]।"

किन्तु "गण में रहते हुए भी दूसरे साधुओं के मन में भेद डाल कर जो गुटबंदी करते हैं, वे विश्वासघाती हैं। ऐसा करने वाले चिर-काल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं[२]।"

गुटबंदी राजनीति का चक्र है। इसमें फँसने वाला साधक अपनी साधना को जीर्ण-शीर्ण कर देता है

अपमान उसीके लिए है, जिसके चित्त का विक्षेप होता है। जिसके चित्त का विक्षेप नहीं होता उसके लिए अपमान जैसी कोई वस्तु है ही नहीं—

"अपमानादय स्तस्य, विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादय स्तस्य, न क्षेपो यस्य चेतसः॥"

जिसने चित्त का विक्षेप नहीं छोड़ा वह कैसा है साधक और कैसी है उसकी साधना ?

मन मुटाव का प्रमुख कारण है स्वार्थ की क्षति। जो स्वार्थ में लिप्त होता है, वह निर्लेप नहीं बन सकता। आचार्य के अनुग्रह का महत्त्व यही है कि उससे साधु को साधना का सहयोग मिले। उसे भी वह किसी स्वार्थ की पूर्ति में लगाए तो वह अनुग्रह कोई विशेष मूल्य नहीं रखता। आचार्य का पर्याप्त अनुग्रह न हो, उससे खिन्न होकर गण में भेद डालने का यत्न करता है उसने साधना का मर्म नहीं समझा। गुटबंदी का अर्थ है—साधना की अपरिपक्वता। आचार्य भिक्षु ने गुटबन्दी को साधना के लिए सद्योघाती आतंक कहा है।

: १९ : क्या माना जाय ?

साधु-समुदाय के लिए कुल, गण और संघ ये तीन शब्द व्यवहृत होते हैं। कुल से गण और गण से संघ व्यापक है। एक आचार्य के शिष्य-समूह को

१-लिखित १८५०
२-लिखित १८४५

कुल, दो आचार्यों के सहवर्ती शिष्य-समूह को गण और अनेक आचार्यों के सहवर्ती शिष्य-समूह को संघ कहा जाता है।

तेरापंथ साधु-समूह के लिये प्रायः गण शब्द का प्रयोग होता है। कुछ लोग साथ में रहते हैं—इतने मात्र से उनका गण नहीं होता। गण तब होता है जब वे एक व्यवस्था-सूत्र में आबद्ध होकर रहें। गण का मूल आधार व्यवस्था है। जिस व्यवस्था में जो रहे वह उस गण का सदस्य होता है और उस व्यवस्था से अलग होने पर वह उसका सदस्य नहीं होता। आचार्य भिक्षु ने कहा—"जो कोई साधु गण से अलग हो जाए, उसे साधु न माना जाए, चार तीर्थ में उसकी गिनती न की जाए। उसे वन्दना करना जिनाज्ञा के प्रतिकूल है [1]।"

चारित्र को निभाने की अक्षमता, स्वभाव की अयोग्यता, मन-भेद और मत-भेद आदि-आदि गण से पृथक होने या करने के कारण हैं। जो मतभेद के कारण गण से अलग होते हैं, उनको लेकर यह तर्क आता है कि उन्हें साधु क्यों न माना जाय? एक व्यक्ति २० वर्ष तक गण में रहे तब तक वह साधु और गण से अलग होते ही वह साधु नहीं—यह कैसे हो सकता है? तर्क अकारण नहीं है। क्योंकि साधुत्व कोई लोह नहीं है, जो गण रूपी लोह चुम्बक से चिमटा रहे और उसे छोड़ बाहर न जा सके। वह मुक्त-हृदय की उन्मुक्त साधना है। किन्तु आचार्य भिक्षु ने जो कहा वह भी तो मुक्त नहीं है। आगम का प्रत्येक वचन अपेक्षा से युक्त होता है तब आचार्य भिक्षु का वचन अपेक्षा से मुक्त कैसे होगा? गण से पृथक् हुए साधु को साधु न माना जाए—यह यथार्थ दृष्टिकोण है। जो साधु पहले तेरापंथ गण का साधु था, वह गण से पृथक होने के पश्चात् उस गण का कैसे रह सकेगा? जो गण में हों, वे भी गण के साधु और जो गण से पृथक हो जायँ, वे भी गण के साधु माने जायँ तो फिर गण में रहने या उससे पृथक होने का अर्थ ही क्या हो? गण का साधु वही है जो गण की व्यवस्था का पालन करे। उसका पालन न करे, वह गण का साधु नहीं है। इसीलिये आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"उसे चार तीर्थ में न गिना जाय।"

वह वास्तव में क्या है? इस चर्चा में हम क्यों जाएँ? दूसरे भी हजारों साधु हैं, वैसे ही वह है। गण की व्यवस्था में जिसे विश्वास है, वह उसे गण का साधु न माने, इस मर्यादा का आशय यही है।

१-लिखित १८३२

: २० : दोष-परिमार्जन

जो चलता है वह स्खलित भी हो जाता है। स्खलित होना बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात है—चलना। व्यवस्था इसलिए होती है कि व्यक्ति चले और स्खलित न हो। अकेला व्यक्ति चलता है या स्खलित होता है, उसका उत्तरदायी वह स्वयं होता है। समुदाय में कोई चलता है या स्खलित होता है, उसका उत्तरदायित्व समुदाय पर होता है। साधना के क्षेत्र में व्यक्ति समुदाय में रहते हुए भी अकेला होता है इसलिए उसका दायित्व भी स्वयं पर अधिक होता है किन्तु समुदाय में रहने वाला अकेला ही नहीं होता इसलिए उसका दायित्व समुदाय पर भी होता है। समुदाय में कोई दोष-सेवन करे, उसे कोई दूसरा देखे, उस समय देखने वाले का क्या कर्तव्य है, यह विमर्श-योग्य विषय है।

एक बार भाई किशोरलाल घनश्यामदास मश्रूवाला से पूछा गया—"गांधीजी की आपको सबसे बड़ी देन क्या है ?" इसका जवाब भाई मश्रूवाला ने इस प्रकार दिया—

"गांधी जी हमें कहते थे कि अगर किसी आदमी के खिलाफ तुम्हारे मन में कोई बात उठी हो तो उसके बारे में उसी आदमी के साथ बात कर लेनी चाहिए। हम हिन्दुस्तानियों में यह हिम्मत कम है। यदि हमें किसी व्यक्ति पर सन्देह हुआ या उसके प्रति असन्तोष हुआ तो उसकी शिकायत या निन्दा हम दूसरों के सामने करते हैं, मगर खुद उसके सामने बात नहीं निकालते बल्कि उसे तो हम ऐसा भी दिखा देते हैं, मानों उसके खिलाफ हमारे दिल में कुछ है ही नहीं। अपने दिल को छिपा कर बोलने की आदत हमने बना ली है। हमारा ऐसा भी ख्याल है कि यह आदत सभ्यता, तहजीब की निशानी है या विवेक है। लेकिन वस्तुतः यह विवेक नहीं, चरित्र की कमजोरी है।"

इस पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं—

"गांधीजी की यह सलाह ईशु के एक उपदेश की याद दिलाती है। अपने एक उपदेश में ईशु ने अपने शिष्यों से कहा है 'तुम मन्दिर में पूजा करने जाओ और पूजा करते करते तुम्हें याद आए कि तुम्हारे मन में किसी भाई के प्रति बुराई आई है तो अपनी पूजा अधूरी छोड़ कर पहले उसके पास जाओ, खुलासा करो और बाद में आकर अपनी पूजा पूरी करो।' पूज्य बापू की इस सलाह पर चलने का मैंने प्रयत्न किया है। परिणाम बहुत अच्छे आए हैं। बात करने के समय अपने जोश को रोक कर शान्त वाणी

से बोलने का आत्म-संयम यदि मुझमें हो तो परिणाम और भी अच्छे आ सकते हैं। आत्म-संयम की कमी जोश पर काबू पाने में अड़चन पैदा करती है। फिर भी मेरा अनुभव ऐसा है कि जिसके विषय में आशंका उठी हो उसके साथ सीधी और साफ बात कर लेने से और उसके लिये अपने मन में सच्ची भावना प्रकट कर लेने से—यदि उस क्षण उसे बुरा लगे तो भी गलत फहमी, दम्भ और चुगल-खोरी फैलने नहीं पाती। 'क' की बात 'क' को ही कह देने से उसे दूसरों के सामने कहते फिरने की वृत्ति कमजोर हो जाती है।"

भाई मश्रूवाला ने उपरोक्त उद्गारों में महात्माजी के जिस जीवन सूत्र की चर्चा की है वह बहुत ही बहुमूल्य है।

आचार्य भिक्षु ने साधुओं और श्रावकों को यही शिक्षा दी थी। निन्दा और विषमवाद को मिटाने के लिए उन्होंने लिखा था—"कोई व्यक्ति किसी साधु-साध्वी में दोष देखे, तो तत्काल उसीको कह दे अथवा गुरु को कह दे पर दूसरों को न कहे[1]।"

दो दृष्टिकोण होते हैं—एक सुधारने का और दूसरा अपमानित करने का। जिसने दोष किया हो उसे, या गुरु को कहा जाए—यह सुधारने का दृष्टिकोण है। उन्हें न कह कर और-और लोगों को कहा जाए—यह किसी को अपमानित करने का दृष्टिकोण है। दूसरों को अपमानित कर स्वयं आगे आने की जो भावना है वह दोषपूर्ण पद्धति है। इससे एक-दूसरे को दोषी ठहरा कर गिराने की परिपाटी हो जाती है। जिस संस्था या समाज के सदस्यों में एक-दूसरे को ओछा दिखाने की भावना या प्रवृति नहीं होती, केवल एक-दूसरे को शुद्ध रखने के लिए ही दोषी को उसके दोष की ओर ध्यान दिलाने की कर्तव्य-भावना होती है, उस संस्था या समाज के चरित्र, प्रेम और संगठन दृढ़तम होते हैं।

दोष थोपना भी पाप है, उसका प्रचार करना भी पाप है और उसकी उपेक्षा करना भी पाप है। सत्पुरुष का कर्तव्य यह है कि वह कोरी सन्देह-भावना से किसी को दोषी न ठहराए। दोष देखे तो उसे, या गुरु को जताए, और कहीं उसका प्रचार न करे।

इस विषय में दो महत्त्वपूर्ण बातें ये हैं—(१) दोष देखे तो तत्काल कह दे। तत्काल का अर्थ उसी समय नहीं है, किन्तु लम्बे समय तक दोष को छिपाये न रखे। (२) दोषों को इकट्ठा न करे।

१-लिखित १८५०

आचार्य भिक्षु ने कहा है—"बहुत दिनों के बाद कोई किसी में दोष बताए तो प्रायश्चित का भागी वही है, जो दोष बताता है। जिसने दोष किया हो, उसे याद हो तो, उसे प्रायश्चित करना ही चाहिए[1]।"

बहुत दिनों के बाद जो दोष बताए उसकी बात कैसे मानी जाए ? उसकी बात में सचाई हो तो ज्ञानी जाने, परन्तु व्यवहार में उसका विश्वास नहीं होता[2]।

जो दोषों को इकट्ठा करता है, वह अन्यायवादी है[3]। जब आपस में प्रेम होता है तब तो उसके दोषों को छिपाता है और प्रेम टूटने पर दोषों की गठरी को खोल फेंकता है, उस व्यक्ति का विश्वास कैसे हो ? वह विपरीत बुद्धि है[4]।

दोष बताने वाला ही दोषी नहीं है, उसे सुनने वाला भी दोषी है। सुनने वालों का कर्तव्य क्या होना चाहिए ? इसे भी आचार्य भिक्षु ने स्पष्ट किया है—"कोई गृहस्थ साधु-साध्वियों के स्वभाव या दोष के सम्बन्ध में कुछ बताए तो श्रोता उसे यह कहे कि मुझे क्यों कहते हो, या तो उसीको कहो या गुरु को कहो, जिससे प्रायश्चित देकर उसे शुद्ध करें। गुरु को नहीं कहोगे तो तुम भी दोष के भागी हो, तुम में भी वक्रता है। मुझे कहने का अर्थ क्या होगा ? यह कह कर उस झमेले से अलग हो जाएँ, उस पंचायत में न फँसे[5]। दोष के प्रकरण को लेकर आचार्य भिक्षु ने एक पूरा 'लिखित' लिखा। उसका सारांश इस प्रकार है—

(१) साधु परस्पर साथ में रहे उस स्थिति में किसी से कोई दोष हुआ हो तो उसे अवसर देख कर शीघ्र ही जता दे, पर दोषों का संग्रह न करे।

(२) जिसने दोष किया हो वह प्रायश्चित करे तो भी गुरु को जता दे।

१-लिखित १८५०

२-क-साध्वाचार ढाल १५ गा० ७ :

घणा दिनांरा दोष बतावे, तें तो मानवा में किम आवे।
साच भूठ तो केवली जाणे, छद्मस्त प्रतीत न आणे ॥

ख-लिखित १८५०

३-लिखित १८५०

४-साध्वाचार ढा० १५ गा० ६ :

हेत मांहे तो दोषण ढांके, हेत टूटां कहतो नहीं सांके।
तिणरी किम आवे परतीत, उणनें जाण लेणो विपरीत ॥

५-लिखित १८५०

(३) वह प्रायश्चित न करे तो दोष को पन्ने में लिख उससे स्वीकृत करा, उसे सौंप दे और कह दे कि इसका प्रायश्चित कर लेना। इसका प्रायश्चित न आए तो भी गुरु को कह देना। इसे टालना मत। जो तुमने नहीं कहा तो मुझे कहना होगा। मैं दोषों को दबा कर नहीं रखूँगा। जिस दोष के बारे में मुझे सन्देह है, उसे मैं सन्देह की भाषा में कहूँगा और जिसे निःसन्देह जानता हूँ उसे असंदिग्ध रूप से कहूँगा। अब भी तुम सँभल कर चलो।

(४) आवश्यकता हो तो उसी के सामने गृहस्थ को बताए।

(५) शेष-काल हो तो गृहस्थ को न कहे। जहाँ आचार्य हो वहाँ आजाए।

(६) गुरु के समीप आकर अडंगा खड़ा न करे।

(७) गुरु किसे सच्चा ठहराए और किसे झूठा ठहराए? लक्षणों से किसी को सच्चा जाने और किसी को झूठा, परन्तु निश्चय कैसे हो सकता है? आलोचना किये बिना वे प्रायश्चित कैसे दें! उन्हें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देख कर न्याय तो करना ही है।

(८) किन्तु दोष बताने वाला सावधान रहे। वह दोषों का संग्रह न करे। जो बहुत दोषों को एकत्रित कर आएगा वह झूठा प्रमाणित होगा। वास्तव में क्या है वह तो सर्वज्ञ जाने पर व्यवहार में दोषी वह है, जो दोषों का संग्रह करता है[1]

जिस के बारे में मन शंकाओं से भरा हो उससे सीधा सम्पर्क स्थापित कर ले—यह मन का समाधान पाने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त ये सूत्र भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं—

(१) किसी में कोई दोष देखो तो उसे एकान्त में बताओ।

(२) गुरु या मुखिया को भी बतादो।

(३) उसे शुद्ध करने की दृष्टि से बताओ, द्वेषवश दोष मत बताओ।

(४) अवसर देख कर तत्काल बताओ।

(५) बहुत दिनों के बाद दोष मत बताओ।

(६) दोषों को इकट्ठा करके मत रखो।

(७) दोषों को छिपाओ मत।

(८) दोषों का प्रचार मत करो।

(९) दोष बताने में हिचक मत करो।

१-लिखित १८४१

अहिंसक की अभय-वृत्ति पर विश्वास करते हुए आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"गुरु, शिष्य अथवा गुरु-भाई—किसी में भी दोष देखे तो उसे जता दे। किसी से भी संकोच न करे। दोष की शुद्धि का प्रयत्न करे। जो शिष्य गुरु का दोष छिपाता है, गुरु के सम्मुख कहने में संकोच करता है, वह बहुत ही भ्रम में है, वह घर छोड़ कर खोटी हुआ है[1]।"

: २१ : विहार

तेरापंथ आचार्य केन्द्रित गण है। इसके सदस्यों में एक आचार्य होते हैं और शेष सब शिष्य। आचार्य संयम से अनुशासित होते हैं और शिष्य-वर्ग संयम और आचार्य के अनुशासन से अनुशासित होता है। अनुशासन की पृष्ठभूमि में सत्ता का बल नहीं है, किन्तु प्रेम और वात्सल्य है। शिष्यों का विनय और आचार्य का वात्सल्य—दोनों मिलकर अनुशासन को संचालित करते हैं। कुछ आधुनिक सुधारक हमारी प्रणाली को सामन्तशाही प्रणाली कहने में गर्व का अनुभव करते हैं। इसमें उनका दोष भी नहीं है। श्रद्धा का स्पर्श भी जो न कर सके उनके लिये सब जगह सामन्तशाही है। तर्क सदा संग्रह की परिक्रमा करता है। श्रद्धा में समर्पण होता है। श्रद्धालु के लिये श्रद्धा सुधा होती है और श्रद्धेय के लिये विष। श्रद्धेय वही होता है जो उस विष को पचा सके। श्रद्धालु श्रद्धा करना जानता है पर वह कैसे टिके, यह नहीं जानता। यह श्रद्धेय को जानना होता है कि वह कैसे टिके ? यह श्रद्धा का ही चमत्कार है कि आचार्य आदेश देते जाते हैं और साधु-साध्वियाँ खड़े होकर उसे स्वीकार करते जाते हैं। माघ शुक्ला सप्तमी का दिन, जो मर्यादा महोत्सव का दिन है, बड़ा कुतूहल का दिन होता है। उस दिन साधु-साध्वियों के भाग्य का निर्णय होता है। किस साधु-साध्वी को आगामी वर्ष कहाँ जाना है, कहाँ रहना है, कहाँ चतुर्मास बिताना है, यह प्रश्न तब तक उसके लिये भी प्रश्न होता है, जब तक आचार्य उसके विहार-क्षेत्र की घोषणा नहीं करते हैं। तब दर्शक आनन्द-विभोर हो जाते हैं, जब आचार्य साधु-साध्वियों को विहार का आदेश देते हैं और वे सम्मान के साथ उसे स्वीकार करते हैं।

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि छोटे-छोटे गाँव खाली हैं और बड़े-बड़े गाँव साधुओं से भरे हैं। साधुओं की दृष्टि उपकार से हटकर सुविधा पर टिक रही है। उन्होंने व्यवस्था की—"सब साधु-साध्वियाँ विहार, शेष-काल

१-साध्वाचार ढाल १५ गा० ३ :
गुरु चेला ने गुरु भाई मांई, दोष देखे तो देणो बताई।
त्यांसूं पिण करणो नहीं टालो, तिणरो काढणो तुरत निकालो॥

या चतुर्मास भारमलजी (वर्तमान आचार्य) की आज्ञा से करे, आज्ञा के बिना कहीं न रहें[१] ।"

उन्होंने बताया—"सुख—सुविधा वाले विहार-क्षेत्रों की ममता कर बहुत जीव चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं[२] ।" इसलिए "सरस आहार मिले वहाँ भी आज्ञा के बिना न रहे[३] ।" कुछ साधु क्या करते हैं—"रूखे क्षेत्र में उपकार होता है तो भी वहाँ नहीं रहते । अच्छे क्षेत्र में उपकार नहीं होता है तो भी पड़े रहते हैं । ऐसा नहीं करना है । चतुर्मास अवसर हो तो किया जाय, पर शेष-काल में तो रहना ही चाहिए । किसी के खान-पान सम्बन्धी लोलुपता की शंका पड़े, तो उसे बड़े कहे वैसा करना चाहिए । दो साधु विहार करें, बड़े-बड़े सुख-सुविधाकारी क्षेत्रों में लोलुपतावश घूमते रहें, आचार्य जहाँ रखे, वहाँ न रहें—इस प्रकार करना अनुचित है । जहाँ बहुत साध रहें वहाँ दुःख माने और दो में सुख माने—लोलुपतावश यह नहीं करना चाहिए[४] ।"

ग्राम और नगर की जो समस्या आज है उसका अंकन वे तभी कर चुके थे । गाँवों की अपेक्षा शहरों में आकर्षण-शक्ति अधिक होती है । पदार्थों की सज-सज्जा जितनी शहरों में होती है उतनी गाँवों में नहीं होती । धार्मिक उपकार जितना गाँवों में होता है उतना शहरों में नहीं होता । महात्मा गांधी ने भी गाँवों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की थी । राजनीतिक संस्थाएँ भी बार-बार ग्राम-सम्पर्क के लिए पद-यात्रा की व्यवस्था किया करती हैं ।

आचार्य भिक्षु का ग्राम-विहार का सूत्र हमारे आचार्यों ने क्रियान्वित किया है । साधु-साध्वियों को विहार-क्षेत्र का जो पत्र सौंपा जाता है, उसमें चतुर्मास के लिए एक क्षेत्र निश्चित होता है और उसमें उसके आसपास के गाँवों के नाम भी लिखे होते हैं । उस क्षेत्र में चातुर्मास करने वाला साधु उसके समीपवर्ती गाँवों में जाता है, रहता है और कहाँ कितनी रात रहा, उसकी तालिका आचार्य से मिलने पर उन्हें निवेदित करता है । आचार्य भिक्षु ने गाँवों में विहार करने की ओर गण का ध्यान खींचकर साधु-संघ पर बहुत उपकार किया है ।

विहार के सम्बन्ध में उन्होंने दूसरी बात यह कही—"आचार्य की आज्ञा

१-लिखित १८५९
२-लिखित १८५९
३-लिखित १८५०
४-लिखित १८५०

या विशेष स्थिति के बिना साधु-साध्वियाँ एक क्षेत्र में विहार न करें[1]।" जिस गाँव में पहले साध्वियां हों वहाँ साधु न जाएँ और जहाँ साधु हों वहाँ साध्वियाँ न जाएँ। पहले पता न हो और वहाँ चले जाएँ तो एक रात से अधिक न रहें। कारणवश रहना पड़े तो भिक्षा के घरों को बाँट लें[2]।"

इस व्यवस्था के अनुसार जहाँ आचार्य हो अथवा उनकी आज्ञा हो, वहाँ एक गाँव में साधु-साध्वियाँ दोनों रहते हैं। उसके सिवाय एक गाँव में नहीं रहते।

आचार्य भिक्षु ने गण की व्यवस्था में भगवान् महावीर के आठ सूत्रों को क्रियान्वित किया। भगवान् ने कहा था—इन आठ स्थानों में भली भाँति सावधान रहो, प्रयत्न करो, प्रमाद मत करो। वे ये हैं—

(१) अश्रुत धर्मों को सुनने के लिए प्रयत्नशील रहो।

(२) श्रुत धर्मों का ग्रहण व निश्चय करने के लिए प्रयत्नशील रहो।

(३) संयम के द्वारा पाप-कर्म न करने के लिए प्रयत्नशील रहो।

(४) तपस्या के द्वारा पुराने पाप-कर्मों को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील रहो।

(५) अनाश्रित शिष्य-वर्ग को आश्रय देने के लिए प्रयत्नशील रहो।

(६) नव-दीक्षित साधु को आचार-गोचर सीखाने के लिए प्रयत्नशील रहो।

(७) ग्लान की अग्लान भाव से सेवा करने के लिए प्रयत्नशील रहो।

(८) साधर्मिकों में कोई कलह उत्पन्न होने पर आहार और शिष्य-कुल के प्रलोभन से दूर, पक्षपात से दूर, तटस्थ रह कर चिन्तन के लिए कि मेरे साधार्मिक कलह-मुक्त कैसे हों? प्रयत्नशील रहो, उस कलह को उपशान्त करने के लिए प्रयत्नशील रहो।

१-लिखित १८५०

२-लिखित १८५०, १८५२

अध्याय ७

अनुभूतियों के महान् स्रोत

आचार्य भिक्षु चिन्तन के सतत् प्रवहमान स्रोत थे। उनसे अनेक धाराएँ प्रस्फुटित हुई हैं। हम किसी एक धारा को पकड़ कर उसके स्रोत को सीमित नहीं बना सकते। उनके एक में सब और सब में एक है। अनुभूति की धारा में से सब धाराएँ निकली हैं और सब धाराओं में अनुभूति का उत्कर्ष है। उनकी अनुभूति में शाश्वत सत्यों और युग के भूत, भावी और वर्तमान के तथ्यों का प्रतिबिम्ब है।

: १ : कथनी और, करनी और

कथनी और करनी का भेद जो होता है, यह नई समस्या नहीं है। यह मानव-स्वभाव की दुर्बलता है, जो सदा से चली आ रही है। इस ध्रुव-सत्य को आचार्यवर ने इन शब्दों में गाया है :

जो स्वयं आचरण नहीं करते
अज्ञानी बने हुए चिल्लपों मारते हैं
वे गुरुओं के समूह में
गधे की भांति भौंकते हैं।

: २ : भेख का भुलावा

जीवन के बनने बिगड़ने में तीन वर्गों का प्रमुख हाथ होता है—माता-पिता, मित्र और गुरु। इनमें सर्वोपरि प्रभावशाली व्यक्ति गुरु होते हैं। गुरु कलाचार्य को भी कहा जाता है और धर्माचार्य को भी। गुरु का भावात्मक अर्थ है शिक्षा का स्रोत। वह पवित्र होता है, व्यक्ति को पावन प्रेरणाएं मिलती हैं, वह अपवित्र होता है, व्यक्ति को अपवित्र प्रेरणाएँ मिलती हैं। जो

धर्म-गुरु का भेष पहने हुए होता है और कर्तव्य में कुगुरु होता है उनके सम्पर्क-जनित परिमाणों को इन शब्दों में गूँथा है—

कुएँ पर जाजिम बिछी है
चारों कोनों पर भार रखा हुआ है
कोई भुलावे में आ, उस पर बैठ जाए उसकी क्या गति होती है ?
वह कुएँ में डूब जाता है
कुगुरु कुएँ के समान हैं
जाजिम के समान उसका वेष है
जो वेष के भुलावे में आ जाता है
वह उसकी कुशिक्षाओं में डूब जाता है
कुगुरु भड़भूँजे के समान है
उसकी मान्यता भाड़ के समान है
अज्ञानी जीव घास-फूस के समान हैं
कुगुरु उन्हें मिथ्या-विश्वासों की भाड़ में झोंकते हैं[1]।

: ३ : बहुमत नहीं, पवित्र श्रद्धा चाहिए

जन-साधारण में बहुमत का अनुकरण करने की परम्परा रही है। सत्य के अन्वेषकों ने इस पर सदा प्रहार किया है। "मैं तो सबके साथ होऊँगा"—भगवान् महावीर ने कहा—यह बाल-चिन्तन है[2]। महात्मा गान्धी ने कहा—बहुमत नास्तिकता है। आचार्य भिक्षु की उक्ति है—

बहुमत के भरोसे कोई न रहे
निर्णय करो, परखो
लोक भाषा में भी कहा जाता है
घी खाओ, घृत-पात्र नहीं
थोड़ी या अधिक संख्या में नहीं

१-साध्वाचार ढाल १० गा० ६—८ :
जाजम बिछाइ कूवा उपरें, चिहूँ कांनी रे मेल्यों उपर भार।
भोळा बेंसें तिण उपरें, ते डूब मरें रे तिण कूवा मझार॥
तिम कुगुर छें कूवा सारिषा, जाजम सम रे कर्नें साधरो भेष।
त्यांनें गुरु लेखव वंदणा करें, ते डूबें रे मुरख अन्ध अदेख रे॥
कुगुरु भडभूँजा सारिषा, त्यांरी सरधा हो खोटी भाड़ समांण।
भारी करमां जीव चिणा सारिषा,त्यांने झोखेहो खोटी सरधा में आंण॥
२-उत्तराध्ययन ५।७

आत्म-कल्याण साधना में है
समाधान उन्हें मिलता है
जिनके हृदय में पवित्र श्रद्धा होती है[1]।

: ४ : अनुशासन और संयमी

तामिल कवि मुन्सरें मरुदनाट ने कहा है—"यदि किसी मनुष्य के पास
अपार धन सम्पत्ति हो, पर उसमें सच्चा संयम न हो
ऐसे व्यक्ति को अधिकार देना
बन्दर के हाथ में मशाल देने के बराबर है[2]।

मशाल, न बुझे और न दूसरों को जलाये—यह तभी हो सकता है जब वह योग्य व्यक्ति के हाथ में हो। संयमहीन भी और साधु भी, ये दोनों विरोधी दिशाएं हैं—

अंकुश के बिना जैसे हाथी चलता है
लगाम के बिना जैसे घोड़ा चलता है
वैसे ही संयम के बिना कुगुरु चलता है
वह केवल कहने के लिए साधु है[3]।

: ५ : श्रद्धा दुर्लभ है।

भगवान् महावीर ने कहा—श्रद्धा दुर्लभ है। स्वामीजी ने इसे अपने हृदय की अनुभूति के रंग में रंग कर एक नया सौन्दर्य प्रदान किया है—

यह जीव अनन्त जीवों को सिद्धान्त पढ़ा चुका है
अनन्त जीवों से सिद्धान्त पढ़ चुका है

१-दोहरा घणां रो कारण को नहीं रे
सुध सरधा थी पांमे सदा समाध रे
घणां रे भरोसे कोइ रहिज्यो मती रे
सुध सारधा ने चलगत मीठी जोय रे
लोक भाषा में पिण इण विध कहे रे
घी खाधो पिण कुलडो न गयो कोय रे
२-तामिल साहित्य और संस्कृति पृ० ८६
३-साध्वाचार चौपई ढा० १ गा० ३५ :
विन अंकुस जिम हाथी चाले, घोड़ो विगर लगाम जी।
एहवी चाल कुगुरु री जाणो, कहिवा नें साधु नाम जी॥

यह जीव सब जीवों का गुरु बन चुका है
यह जीव सब जीवों का शिष्य बन चुका है
पर सम्यक्-श्रद्धा के बिना भ्रान्ति नहीं मिटी
बीज के बिना हल चलता है
पर खेत खाली रह जाता है
वैसे ही शून्य-चित्त से पढ़ने वाला परमार्थ को नहीं पाता[1]

जो परमार्थ को नहीं पाता वह प्रतिबिम्ब को पकड़ बैठ जाता है। उसे मूल नहीं मिलता।

लाखों कुँड जल से भरे हैं
उनमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब है
मूर्ख सोचता है चन्द्रमा को पकड़ लूं
परन्तु चन्द्रमा आकाश में रहता है
प्रतिबिम्ब को चन्द्रमा मानता है
वह बुद्धि से विकल है।
वैसे ही बाह्याचार को जो मूल मानता है
वह अज्ञान-तिमिर में डूबा हुआ है[2]।

१-केइ भणे भणावे करना नामता रे
वले परसंस्या मान बढ़ाई हेत रे
सूने चित परमारथ पायो नहीं रे
ज्यूं बीज विण खाली रह गयो खेत रे

२-कूँडा भरीया जल सुं लाखां गमे रे
सगले छे चन्द्रमा नों प्रतिबंब रे
मूरख जाणे गिरलेऊँ चन्द्रमा रे
ते तो आकासे अंतरलब रे
प्रतिबिंब ने जो कोई मांने चन्द्रमा रे
ते तो कहीजे विकल समांन रे
ज्यो गुण विण सरधे साधु भेष ने रे
ते हूतां मिथ्याती पूर अग्यान रे

: ६ : जैन-धर्म की वर्तमान दशा का चित्र

जैनधर्म की वर्तमान अवस्था का उन्होंने सजीव चित्रण किया है—
भगवान् महावीर के निर्वाण होने पर घोर अन्धकार छा गया है
जिन-धर्म आज भी अस्तित्व में है
पर जुगनू के चमत्कार जैसा
जैसे जुगनू का प्रकाश क्षण में होता है
क्षण में मिट जाता है
साधुओं की पूजा अल्प होती है
असाधु पूजे जा रहे हैं
यह सूर्य कभी उग रहा है
कभी अस्त हो रहा है
भेख-धारी बढ़ रहे हैं
वे परस्पर कलह करते हैं
उन्हें कोई उपदेश दे तो
वे क्रोध कर लड़ने को प्रस्तुत हो जाते हैं
वे शिष्य-शिष्याओं के लालची हैं
सम्प्रदाय चलाने के अर्थी
बुद्धि-विकल व्यक्तियों को मूंड इकट्ठा करते हैं
गृहस्थों के पास से रुपये दिलाते हैं
शिष्यों को खरीदने के लिए
वे पूज्य की पदवी को लेंगे
शासन के नायक बन बैठेंगे
पर आचार में होंगे शिथिल
वे नहीं करेंगे आत्म-साधन का कार्य
गुणों के बिना आचार्य नाम धराएँगे
उनका परिवार पेटू होगा
वे इन्द्रियों का पोषण करने में रत रहेंगे
सरस आहार के लिए भटकते रहेंगे[1]

१-साध्वाचार चौपई ढाल ३ गा० ६—१४ :
जद पिण पाखंडी था अति घणा रे,
तो छिवड़ां पिण पाषंडी नो जोर रे।

वैराग्य घटा है, मेख बढ़ा है
हाथी का भार गधों पर लदा हुआ है
गधे थक गए, बोझ नीचे डाल दिया

वीर जिनंद मुगत गयां पछै रे,
भरत में हुओ अंधारों घोर रे॥
तिण में धर्म रहसी जिनराज रो रे,
थोड़ो सो अग्यानों चमत्कार रे।
झबको परे नें बले मिट जांवसी रे,
पिण निरन्तर नहीं इकबीस हजार रे॥
अल्प पूजा होसी सुध साध री रे,
आगूंच वीर गया छे भाष रे।
असाधु री पूजा महिमा अति घणी रे,
ठाणाअंग मांहिं तिणरी साख रे॥
ऊगे ऊगे ने बले ऊगियो रे,
तो आथमियाँ विन किम उगाय रे।
इण न्याय भवियण नहिं धर्म सासतो रे,
हुयहुय झलपट नें बुझ जाय रे॥
लिंगरा लिंगरी वधसी अति घणा रे,
करसी मांहों मांहिं झगडा राड रे।
जे कोई काढे तिण में खूंचणी रे,
क्रोध कर लडवा नें छे तयार जी॥
चेला चेली करण रा लोभीया रें,
एकंत मत बांधण सूं काम रे।
विकलां नें मूंड मूंड भेला करे रे,
दिराए गृहस्थ ना रोकड दाम रे॥
पूजरी पदवी नाम धरावसी रे,
में छां सासण नायक सांम रे।
पिण आचारे ढीला सुध नहिं पालसी रे,
नहिं कोई आतम साधन काम रे॥
आचार्य नाम धरासी गुण विना रे,
पेट भरा ज्यांरो परवार रे।

इस काल में ऐसे वेषधारी हैं[1]।

उनका भगवान् महावीर के प्रति आत्म-निवेदन भी बड़ा मार्मिक है—

भगवन्! आज यहां कोई सर्वज्ञ नहीं है
और श्रुतकेवली भी, विच्छिन्न हो चुके
आज कुबुद्धि कदाग्रहियों ने
जैन-धर्म को बाँट दिया है
छोड़ चुके हैं जैन-धर्म को
यथा, महात्मा बन
प्रभो! जैन-धर्म आज विपदा में है
केवल ज्ञान-शून्य वेष बढ़ रहा है
इन नामधारी साधुओं ने
पेट पूर्ति के लिये
दूसरे दर्शनों की शरण ले ली है
इन्हें कैसे फिर मार्ग पर लाया जाए
इनकी विचार धारा का
कोई सिर-पैर नहीं है
इन्हें न्याय की बात कहने पर
ये कलह करने को तैयार हो जाते हैं
प्रभो! तुमने कहा है
सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप।
मुक्ति के मार्ग यही हैं
मैं इनके सिवाय किसी को

कपटी वो हुसी इंद्री पोषवा रे,
कपट कर त्यागी सरस आहार रे॥
लालची वो होसी आहार लालचा रे,
गिरासी ए जाणी जीमणवार रे।
पांव नीमें जिहां जासी पावरा रे,
आग्या लोपे हुसी बेकार रे॥

१-साध्वाचार चौपई ढाल ६ गा० २८:
वैराग घट्यो ने भेष वधियो, हाथ्यां रो भार गधां लदियो।
थक गया बोज दियो डालो, एहवा भेष धारी पांचमें कालो॥

मुक्ति-मार्ग नहीं मानता
मैं अरिहंत को देव
और मानता हूँ गुरु निर्ग्रन्थ को ही
धर्म वही है सत्य सनातन
जो कि अहिंसा कहा गया है
शेष सब मेरे लिए भ्रम-जाल है
मैं प्रभो! तुम्हारा शरणार्थी हूँ
मैं मानता हूँ प्रमाण तुम्हारी आज्ञा को
तुम्ही हो आधार मेरे तो
तुम्हारी आज्ञा में मुझे परम आनन्द मिलता है[1]

: ७ : आकाश कैसे संधे ?

वे पवित्रता के अनन्य भक्त थे। उनका अभिमत था कि सब पवित्र हों। जहाँ मुखिया अपवित्र हो जाता है वहाँ बड़ी कठिनाई होती है—

आकाश फट जाये।
उसे कौन सांधे ?
गुरु सहित गण बिगड़ जाए।
उस संघ के छेदों को कौन रोके[2] ?

: ८ : क्रोध का आवेग

क्रोध के आवेश से परिपूर्ण मनोदशा में एक विचित्र प्रकार की उछल-कूद होती है। उसका वर्णन इन शब्दों में है—

क्रोध कर वे लड़ने लग जाते हैं
इस प्रकार उछलते हैं
जैसे भाड़ में से चने उछलते हों[3]

१-वीर सुणो मोरी वीनती की ढाल :

२-साध्वाचार चौपई ढाल ६ दूहा ४ :

आभे फाटे थीगरी, कुण छे देवणहार।
ज्यूँ गुरु सहित गण विगडियो, त्यांरे चहुं दिस परिया बघार॥

३-साध्वाचार चौपई ढाल २१ गा० ३० :

जो वरतां री चरचा करें त्यां आगें, तो क्रोध करे लडवा लागें।
जांणे भाड मा सूं चिणां उछलीया, कर्म जोगे गुर माठा मिलीया॥

: २ : विनीत-अविनीत

विनीत और अविनीत की अनेक परिभाषाएँ हैं। आचार्य भिक्षु ने परिभाषाओं के अतिरिक्त उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है। उसके कुछेक तथ्य ये हैं—

"एक साधु विनीत है और दूसरा अविनीत। विनीत अच्छा गाता है और जो अविनीत है वह गाना नहीं जानता। गाने वाले की लोग सराहना करते हैं तब वह मन में जलता है और लोगों को कहता है—

वह गा-गा कर जनता को प्रसन्न करता है और मैं तत्त्व सिखाता हूँ[1]।

वह गुरु का गुणानुवाद सुनकर भी प्रसन्न नहीं होता। गुरु का अवगुण सुनता है तो वह खिल उठता है[2]।

वह गुरु की बराबरी करता है। सड़ा हुआ पान जैसे दूसरे पानों को बिगाड़ देता है वैसे ही अविनीत व्यक्ति दूसरों में सड़ान पैदा कर देता है[3]।

१-विनीत अविनीत ढाल १ गा० २२, २३ :

कोई उपगारी कंठ कलाधर साधरी रे,
प्रशंसा जश कीरति बोले लोग रे।
अविनीत अभिमानी सुण सुण परजले,
उणरे हरख घटे ने वधे शोग रे॥
जो कंठ कला न हुवे अविनीत री रे,
तो लोकां आगे बोलें विपरीत रे।
यो गाय २ रीझाया लोक नें रे,
कहे हूं तत्त्व ओलखाऊं रूडी रीत रे॥

२-विनीत अविनीत ढाल १ गा० २५ :

जो गुरु रा पिण गुण सुणनें विलखो हुवे रे,
ओगुण सुणे तो हरषत थाय रे।
एहवा अभिमानी अविनीत तेहनें रे,
ओलखाई भवजीवां नें इण न्याय रे॥

३-विनीत अविनीत ढाल १ गा० २८ :

वले करे अभिमानी गुरु सूं बरोबरी रे,
तिण रे प्रबल अविनों नें अभिमान रे।
ओ सड़ सड़ ढीलानें आछो नहीं रे,
ज्यूं विगड्यो विगाडे सडीयो पान रे॥

अविनीत को जब गण में रहने की आशा नहीं होती तब वह डकौत की भाँति बोलता है। डकौत जैसे गर्भवती स्त्री को कहता है—तुम्हारे सुन्दर बेटा होगा और पड़ोसिन को कह जाता है—इसके बेटी होगी और वह भी अत्यन्त कुरूप। इसी प्रकार गुरु के भक्त-शिष्यों के सामने वह गुरु की प्रशंसा करता है और जिसे अपने अधीन हुआ जानता है उसके सामने गुरु की निन्दा करता है[1]।

जो दूसरे की विशेषता को अपनी विशेषता की ओट में छिपाने का प्रयत्न करता है और जो गुण सुनकर अप्रसन्न और निन्दा सुनकर प्रसन्न होता है वह व्यक्ति-विशेष को महत्त्व देता है, गुण को नहीं। जो गुण की पूजा करना नहीं जानता, वह बहुत पढ़कर भी शायद कुछ भी नहीं जानता। इसलिए उसे अविनीत ही नहीं, अज्ञानी भी कहा जा सकता है। जो बड़ों का सम्मान नहीं करता और दूसरों को उभाड़ कर विद्रोह पूर्ण भावना फैलाने में ही रस लेता है उसे क्या पता कि साधना में क्या रस होता है? वह अविनीत ही नहीं है, नीरस भी है। उसने साधना का स्वाद चखा ही नहीं।

जो मुख के सामने कुछ और कहता है
तथा पीठ पीछे कुछ और
वह विष का घड़ा है, ढकन अमृत का लगा हुआ है
वह अविनीत ही क्या है, जीता-जागता विश्वासघात है
अविनीत को अविनीत का संयोग मिलता है
तब वह वैसे ही प्रसन्न होता है।
जैसे डायन जरख को पाकर प्रसन्न होती है[2]।

१-विनीत अविनीत ढाल २ दूहा ३ :

गुरु भगता श्रावक श्राविका कनें,
गुरु रा गुण बोले ताम।
आपरे वश हुओ जाणे तिण कनें,
ओगुण बोले तिण ठाम॥

२-विनीत अविनीत ढाल ५ गा० २८ :

अविनीत नें अविनीत श्रावक मिले ए,
ते पामें घणो मन हरख।
ज्यूं डाकण राजी हुवे ए,
चढवानें मिलियां जरख॥

अविनीत अपने सम्पर्क से विनीत को भी अविनीत बना देता है। जैसे—

एक व्यक्ति ने अपने बेटे का विवाह किया। दहेज में ससुराल वालों ने कई गधे दिये। उनमें एक गधा अविनीत था। वह जल-पात्र को गिरा फोड़ देता। उससे हैरान होकर उसे छोड़ दिया। वह जंगल में स्वतंत्र रहने लगा। एक दिन वहाँ एक गाड़ीवान आया। वृक्ष की छाँह में विश्राम के लिए उतरा। बैलों को एक पेड़ से बाँध दिया और स्वयं रसोई पकाने लगा। गधा घूमता-फिरता उन बैलों के पास जा पहुँचा। वह बोला—देखो! मेरी बात मानो तो तुम इस भार ढोने के कष्ट से मुक्त हो सकते हो।

दो बैलों में एक मामा था और दूसरा भानजा। मामा-बैल को उसकी बात रुची। किन्तु भानजे ने फटकार बताते हुये कहा—हम भार ढोते हैं वह तुम देखते हो, पर हमारा स्वामी हमारी कितनी सेवा करता है, वह नहीं देखते। गधा बोला आखिर हो तो परतंत्र ही न! भानजे ने कहा—हम स्वतंत्र होकर कर ही क्या सकते हैं? भानजे के समझाने के बाद भी मामा गधे के जाल में फँस गया। गाड़ी चली और मामा ने कुबुद्धि का प्रयोग शुरू किया। वह चलते-चलते गिर पड़ा, उठाया और फिर गिर पड़ा, जोर-जोर से साँस लेने लगा। गाड़ीवान ने सोचा—बैल मरने वाला है। उसने उसे मार गाड़ी में डाल दिया। अब एक बैल से गाड़ी कैसे चले। आस-पास गधा घूम रहा था, उसे पकड़ गाड़ी में जोत दिया। वे दोनों दुःखी हुए—बैल मारा गया और गधे को जुतना पड़ा। उसी प्रकार कुबुद्धि सिखाने वाला और सीखने वाला दोनों दुःखी होते हैं[1]।

: १० : गिरगिट के रंग

व्यक्तित्व की पहली कसौटी है सहिष्णुता। इसे पाये बिना कोई भी

१-विनीत-अविनीत ढाल २ गा० १३-१५ :

बुटकने गधेडे दुराचारी, तिण कीधी घणी खोटाई रे।
आप छांदे रह्यो उजाड में, एक बलद नें कुबद सीखाई रे॥
तिण अविनीत बलद नें तुरकियां, मार गाडा में घाल्यो रे।
बुटकना नें आण जोतस्यो, हिवे जाये उतावल सूं चाल्यो रे॥
ज्यूं अविनीत नें अविनीत मिल्यां, अविनीतपणो सिखावे रे।
पछें बुटकना नें बलद ज्यूं, दोनूं जणा दुःख पावे रे॥

व्यक्ति मन का संतुलन नहीं रख पाता। जो परिस्थिति के बहाव में ही बहता है, थोड़े में प्रसन्न और थोड़े में अप्रसन्न हो जाता है, उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता। एक संस्कृत कवि ने कहा है—

जो क्षण में रुष्ट और क्षण में तुष्ट होता है, क्षण में तुष्ट और क्षण में रुष्ट होता है, इस प्रकार जिसका चित्त अनवस्थित है उसकी प्रसन्नता भी डराने वाली होती है[1]। आचार्य भिक्षु ने ऐसे मनोभाव की तुलना सोरे से की है—

सोरा मुँह में डालने पर ठंडा लगता है
अग्नि में डालने पर वह भभक जाता है
क्षण में प्रसन्न और क्षण में अप्रसन्न होता है
वह सोरे के समान है
भोजन, जल, वस्त्र मिलने पर
जो कुत्ते की भाँति पूँछ हिलाता है
और उलाहना मिलने पर
जो संघ से अलग हो जाता है
सोरा स्वयं जलता है, दूसरों को जलाता है
फिर राख होकर उड़ जाता है
वैसे ही अविनीत व्यक्ति
अपने और दूसरों के गुणों को राख कर डालता है[2]।

क्षण-क्षण में रुष्ट-तुष्ट होने का मनोभाव अच्छा नहीं है। उससे व्यक्ति को असन्तोष पूर्ण जीवन बिताना पड़ता है, पर स्वभाव का परिवर्तन भी कोई सहज सरल नहीं है।

१-क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः, रुष्टः तुष्टः क्षणे क्षणे।
अनवस्थित चित्तानां, प्रसादोऽपि भयंकरः॥

२-विनीत-अविनीत ढाल २ गा० ३१-३३ :
सोर ठंडो लागे मुख में घालियां, अग्नि मांहें घाल्यां हुवे तातो रे।
ज्यूं अविनीत नें सोर री ओपमां, सोर ज्यूं अलगो पडे जातो रे॥
आहार पाणी वस्त्रादिक आपियां, तो उ श्वान ज्यूं पूंछ हलावे रे।
करडो कह्यां उठे सोर अग्नि ज्यूं गण छोडी एकल उठ जावे रे॥
सोर आप बले बाले ओर नें, पछे राख थइ उड जावे रे।
ज्यूं अविनीत आप नें पर तणा, ज्ञानादिक गुण गमावे रे॥

किसी के हृदय को बदलने का साधन है समझाना-बुझाना। किन्तु किसी का समझना समझाने वाले पर ही निर्भर नहीं है। समझाने और समझने वाले दोनों योग्य हों, तभी वह कार्य पूर्ण होता है, अन्यथा नहीं। इस तथ्य को प्याज के उदाहरण से समझाया है—

प्याज को सौ बार जल से धोया
पर उसकी गंध नहीं गई
अविनीत को बार-बार उपदेश दिया
पर उसका हृदय नहीं बदला
प्याज की गंध धोने पर
कुछ मंद पड़ जाती है
परन्तु अविनीत को उपदेश
देने का कोई फल नहीं होता[1]।

: ११ : गुरु का प्रतिबिम्ब

एक व्यक्ति को विनीत शिक्षक मिलता है और दूसरे को शिक्षक मिलता है अविनीत। एक जो विनीत के पास सीखा और दूसरा अविनीत के पास, उन दोनों में कितना अन्तर है ? यह प्रश्न उपस्थित कर आचार्य ने स्वयं इसका समाधान किया है—

एक ने विनीत से बोध पाया
और एक ने पाया अविनीत से
उनमें उतना ही अन्तर है

१-विनीत-अविनीत ढाल ३ गा० २९-३० :

कांदा नें सो वार पाणी सूं धोवियां,
तोही न मिटे तिणरी वास हो।
ज्यूं अविनीत नें गुरु उपदेश दिये घणों,
पिण मूल न लागे पास हो॥
कांदा री तो वास धोयां सुधरी पडे,
निरफल छे अविनीत नें उपदेश हो।
जो छेडवे तो अविनीत अवलों पडे घणों,
उणरे दिन २ अधिक कलेश हो॥

जितना धूप और छाँह में[1]।
जो विनीत के द्वारा प्रतिबुद्ध है.
वह चावल-दाल की भाँति सबसे घुल-मिल जाता है
जो अविनीत के द्वारा प्रतिबुद्ध है
वह 'काचर' की भाँति अलग ही रहता है[2]।

: १२ : उत्तरदायित्व की अवहेलना

आचार्य भिक्षु संघ-व्यवस्था के महान् प्रवर्तक थे। वे व्यवहार के क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग को बहुत महत्त्व देते थे। जो व्यक्ति स्वार्थी होते हैं, वे केवल लेना ही जानते हैं, देना नहीं और जो सामुदायिक उत्तरदायित्व की अवहेलना करते हैं वे संघ की जड़ों को उखाड़ने जैसा प्रयत्न करते हैं। इसे एक कथा के द्वारा समझाया है—

किसी व्यक्ति ने चार याचकों को एक गाय दी।
वे क्रमशः एक-एक दिन उसे दुहते हैं
पर उसे चारा कोई नहीं खिलाता।
वे सोचते हैं एक दिन नहीं खिलाएँगे तो क्या है ?
कल जिसे दूध लेना है वह स्वयं खिलाएगा।
उनकी स्वार्थ-वृत्ति का फल यह हुआ
कि गाय मर गई
रहस्य खुला तब लोगों ने उन्हें धिक्कारा
दूध भी अब कहाँ से मिले उन्हें ?

१-विनीत-अविनीत ढाल ५ गा० १५ :
समझाया विनीत अविनीत रा ए,
त्यांमें फेर कितोयक होय।
ज्यूं तावडो नें छांहडी ए,
इतरो अन्तर जोय॥

२-विनीत अविनीत ढाल ५ गा० १४ :
विनीत तणा समझाविया ए,
साल दाल ज्यूं भेला होय जाय।
अविनीत रा समझाविया ए,
ते कोकला ज्यूं कानी थाय॥

इसी प्रकार जो संघ या आचार्य से बहुत लेना चाहते हैं परन्तु उनके प्रति अपना दायित्व नहीं निभाते, वे स्वयं नष्ट होते हैं और संघ को भी विनाश की ओर ढकेल देते हैं[1] ।

जिस समाज, जाति और देश में निःस्वार्थ भावी लोग होते हैं, उस समाज, जाति और देश का उत्कर्ष होता है और स्वार्थी लोग संगठन को अपकर्ष की ओर ले जाते हैं। स्वार्थी की दृष्टि स्वार्थ पर टिकती है, दायित्व उसकी ओट में छिप जाता है। स्वार्थ कोई बुरा ही नहीं है, परन्तु संघ के हितों को

१-विनीत अविनीत ढाल ४ गा० ११-१५ :

किण ही गाय दीधी च्यार ब्राह्मणां भणी रे,
ते वारे २ दूहे ताय रे।
तिणनें चारे न नीरे लोभी थका रे,
म्हारे काले न दूजे आ गाय रे॥
त्यांरे मांहोंमां लागो ईशको रे,
तिणसूं दुखे २ मूइ गाय रे।
ते फिट २ हुवा ब्राह्मण लोक में रे,
ते द्रिष्टान्त अविनीत नें उलखाय रे॥
गाय सरिखा आचारज मोटका रे,
दूध सरिखो दे ज्ञान अमोल रे।
कुशिष्य मिल्या ते ब्राह्मण सारिखा रे,
ते ज्ञान तो लेवे दिल खोल रे॥
आहार पाणी आदि वीयावच तणी रे,
ए न करे सार संभाल रे।
एहवा अविनीतां रे वस गुरु पड्या रे,
त्यां पिण दुखे २ कियो काल रे॥
ब्राह्मण तो फिट फिट हुवा घणा रे,
ते तो एकण भव मझार रे।
तो गुरु रा अविनीत रो कहिवो किसूं रे,
तिण रो भव २ में हुसी बिगाड रे॥

गौण बनाकर जो प्रमुख बन जाए वैसा स्वार्थ अवश्य ही बुरा है। आचार्य भिक्षु ने इसी तथ्य को उक्त पंक्तियों में अंकित किया है।

: १३ : चौधराई में खींच-तान

आचार्य भिक्षु की अनुभूति की धारा कहीं तटों की सीमा में प्रवाहित हुई है तो कहीं उन्मुक्त। तटों के मध्य में बहने वाली धारा का सुखद-स्पर्श हम कर चुके हैं। अब उन्मुक्त धारा में भी कुछ डुबकियाँ लगा लें।

एक खरगोश के पीछे दो बाघ दौड़े। वह भाग कर एक खोह में घुस गया। वहां एक लोमड़ी बैठी थी। उसने पूछा—तू प्राणों को हथेली पर लिए कैसे दौड़ आया ?

बहन ! जंगल के सभी जानवर मिलकर मुझे चौधरी बनाना चाहते थे। मैं इस पचड़े में पड़ना नहीं चाहता था। इसलिए बड़ी कठिनाई से उनके चंगुल से निकल आया हूँ—खरगोश ने अपनी भयपूर्ण भावना को छिपाते हुए कहा।

लोमड़ी—भैया ! चौधराई में तो बड़ा स्वाद है।

खरगोश—बहन ! यह पद तुम ले लो, मुझे तो नहीं चाहिए।

लोमड़ी का मन ललचाया और वह चौधराई का पद लेने खोह से बाहर निकली। वहाँ बाघ खड़े ही थे। उन्होंने उसके दोनों कान पकड़ लिए। वह कानों को गँवाकर तुरंत लौट आई।

खरगोश—अभी वापस क्यों चली आई ?

लोमड़ी—चौधराई में खींचतान बहुत है[1]।

यह सच है चौधराई में खींचतान बहुत है[1]। पर उसकी भूख किनको नहीं है ? जनतन्त्र के युग में वह और अधिक उभर जाती है। किन्तु लोग इससे बोध-पाठ लें—अपनी योग्यता को विकसित किये बिना चौधरी बनने का यत्न न करें।

: १४ : ताँबे पर चांदी का झोल

एक साहूकार की दुकान में एक आदमी आया। उसने एक पैसे का गुड़ लेना चाहा। सेठ ने पैसा ले उसे गुड़ दे दिया। उसने सोचा प्रारम्भ अच्छा हुआ है पहले पहल ताँबे का पैसा मिला है।

दूसरे दिन वह एक रुपये को भुनाने के लिए आया। साहूकार ने वह ले लिया और उसको रेजगारी दे दी। साहूकार ने प्रारम्भ को शुभ माना।

१-दृष्टान्त २६८

तीसरे दिन वह खोटा रुपया भुनाने को आया। साहूकार ने उसे लेकर देखा तो वह खोटा रुपया था—नीचे ताँबा और ऊपर चाँदी का झोल था। साहूकार ने रुपये को नीचे डालते हुए कहा—आज तो बहुत बुरा हुआ। सूर्योदय होते-होते खोटे-रुपये के दर्शन हुए हैं।

ग्राहक बोला—सेठजी ! नाराज क्यों होते हैं ? परसों मैं ताँबे का पैसा लाया था तब आप बहुत प्रसन्न हुए और उसकी वन्दना की। कल मैं चाँदी का रुपया लाया था तब भी आप प्रसन्न हुए और उसकी वन्दना की। आज मैं जो रुपया लाया हूँ उसमें ताँबा और चाँदी दोनों हैं। आज तो आपको अधिक प्रसन्न होना चाहिए, इसको दो बार वन्दना करनी चाहिए।

साहूकार ने झल्लाते हुए कहा—मूर्ख ! परसों तू पैसा लाया, वह कोरे ताँबे का था, इसलिए खरा था। कल रुपया लाया, वह कोरी चाँदी का था, इसलिए वह भी खरा था। आज तू जो लाया है वह न कोरा ताँबा है और न कोरी चाँदी। यह तो खोटा है। नीचे ताँबा है और ऊपर चाँदी का पानी चढ़ाया हुआ है, इसलिए यह खोटा है।

गृहस्थ पैसे के समान है। साधु रुपये के समान है। साधु का भेष धारण करने वाला उस खोटे रुपये के समान है, जो न कोरा ताँबा है और न कोरी चाँदी है।

गृहस्थ मोक्ष की आराधना कर सकता है, साधु मोक्ष की आराधना करता है; पर भेषधारी मोक्ष की आराधना नहीं कर सकता[1]।

अपने रूप में सब वस्तुएँ शुद्ध होती हैं। अशुद्ध वह होती है, जिसका अपना रूप कुछ दूसरा हो और वह दीखे दूसरे रूप में। यह अन्तर और बाहर का भेद जनता को भुलावे में डालता है। इसीलिए मनुष्य को पारखी बनने की आवश्यकता हुई।

परीक्षा के लिए शरीर-बल अपेक्षित नहीं है। वह बुद्धि-बल से होती है। शरीर-बल जहाँ काम नहीं देता वहाँ बुद्धि-बल सफल हो जाता है।

: १५ : बुद्धि का बल

एक जाट ने ज्वार की खेती की। फसल पक गई थी। एक रात को चार चोर खेत में घुसे। ज्वार के भुट्टों को तोड़ चार गट्ठर बाँध लिए। इतने में जाट आ गया और उसने यह सारा करतब देख लिया। वह उनके पास आया और हँसते हुए पूछा—भाई साहब ! आप किस जाति के होते हैं ?

1-दृष्टान्त २९६

उनमें से एक ने कहा—मैं राजपूत हूँ। दूसरा—मैं साहूकार हूँ। तीसरा—मैं ब्राह्मण हूँ। चौथा—मैं जाट हूँ।

जाट ने राजपूत से कहा—आप मेरे स्वामी हैं, इसलिए कोई बात नहीं, जो लिया सो ठीक है। साहूकार ऋण देता है इसलिए उसने लिया, वह भी ठीक है, ब्राह्मण ने लिया है उसे मैं दक्षिणा ही मान लूंगा, पर यह जाट किस न्याय से लेगा? चल, तुझे अपनी माँ से उलाहना दिलाऊँगा। उसका हाथ पकड़ ले गया और उसी की पगड़ी से कसकर उसे एक पेड़ के तने पर बाँध दिया।

वह फिर आकर बोला—मेरी माँ ने कहा है—राजपूत हमारा स्वामी है, साहूकार ऋण देता है सो ये लेते हैं वह न्याय है, पर ब्राह्मण किस न्याय से लेगा? वह तो दिये बिना लेता नहीं। चल मेरी माँ के पास। वह उसे भी ले गया और उसी प्रकार दूसरे पेड़ के तने पर बाँध आया। उन्हीं पैरों लौट आया और बोला—मेरी माँ ने कहा है—राजपूत हमारा स्वामी है, वह ले सो न्याय है, पर साहूकार ने हमें कब ऋण दिया था? चल, मेरी माँ तुझे बुलाती है। उसको भी पकड़ हाथ ले गया और उसी भाँति बाँध आया। अब राजपूत की बारी थी। उसने आते ही कहा—ठाकुर साहब! जो स्वामी होते हैं वे रक्षा करने को होते हैं या चोरी करने को? उसे भी ले गया और उसी भाँति बांध दिया। चारों को बांध थाने में गया और चारों को गिरफ्तार करवा दिया। बुद्धि से काम लिया तब सफल हो गया। यदि वह शरीर-बल से काम लेता तो स्वयं पिट जाता और अनाज भी चला जाता[1]।

: १६ : विवेक शक्ति

परीक्षा-शक्ति नहीं होती तब तक सब समान होते हैं। सब समान हों, किसी के प्रति राग-द्वेष न हो—यह अच्छा ही है पर ज्ञान की कमी के कारण सब समान हों—यह अच्छा नहीं है। आचार्य भिक्षु 'विवेक' को बहुत महत्त्व देते थे। अविवेकी के लिए काँच और रत्न समान होते हैं। जब विवेक जागता है तब काँच, काँच हो जाता है, रत्न, रत्न—

दो भाई रत्नों का व्यापार करते थे। एक दिन बड़ा भाई अकस्मात् संसार से चल बसा। पीछे वह पत्नी और एक पुत्र को छोड़ गया। पुत्र अभी बच्चा ही था। थोड़े वर्ष बीते। लड़का भी कुछ बड़ा हो गया। एक दिन उसकी माँ ने कहा—बेटा, जाओ! यह पोटली अपने चाचा के पास ले जाओ। रुपयों की जरूरत है इसलिए कह देना, ये रत्न बेच दें—

१-दृष्टान्त ११७

लड़का दौड़ा। रत्नों की पोटली चाचा को सौंप दी और माँ ने जो कहा वह सुना दिया। चाचा ने उसे खोल देखा तो सारे रत्न नकली थे। उसने पोटली को बाँध उसे उसी क्षण लौटा दिया और कहला भेजा कि अभी रत्नों के भाव मन्दे हैं, जब तेज होंगे तब बेचेंगे। चाचा ने उस बच्चे को रत्नों की परख का काम सिखाना शुरू किया। थोड़े समय में ही वह इस कला में निपुण हो गया।

एक दिन चाचा ने उसके घर आकर कहा—बेटा! रत्नों के भाव तेज हैं, वे रत्न बेचने हों तो अपनी माँ से कहदो।

वह पोटली आई। उसने तत्परता से उसे खोला। देखते ही उन रत्नों को फेंक दिया। माँ देखती ही रही। उसके लिए वे रत्न थे किन्तु उसके पत्र के लिए, जो रत्नों का पारखी बन चुका था, अब वे रत्न नहीं रहे[1]।

: १७ : उछाला पत्थर तो गिरेगा ही

किसी ने पूछा—गुरुदेव! साधुओं को असुख क्यों होता है, जब कि वे किसी को भी दुःख नहीं देते?

आचार्य भिक्षु ने कहा—जिसने पत्थर उछाल कर सिर नीचे किया है वह तो उस पर गिरेगा ही। आगे नहीं उछालेगा तो नहीं गिरेगा। पहले दुःख दिया है वह तो भुगतना ही है। अब दुःख नहीं देते हैं तो आगे दुःख नहीं पाएँगे[2]।

विवेक का अर्थ है—पृथक्करण। भलाई और बुराई दो हैं। विवेक उन्हें बांट देता है। कोई आदमी आज भला है, पर वह पूर्व-संचित बुराई का फल भोगता है। प्रश्न हो सकता है—यह क्यों? इसका उत्तर यही है कि विश्व की व्यवस्था में विवेक है।

कोई आदमी आज बुरा है पर वह पूर्व-संचित भलाई का फल भोगता है तब सन्देह होता है। उनके समाधान के लिए यह पर्याप्त है कि विश्व की व्यवस्था में विवेक है। उक्त संवाद में इसी ध्रुव सत्य की व्याख्या है।

१—अणुकम्पा ढाल ७ गा० १६:

काच तणा देखी मिणकला, अणसमझ्याँ हो जाणे रत्न अमोल।
ते निजर पड्याँ सराफ री, कर दीधो हो तिणरो कोड्यां मोल॥

२—दृष्टान्त-१२२

: १८ : राग-द्वेष

ध्रुव-सत्य को पकड़ने में सबसे बड़ी बाधा है राग-द्वेष पूर्ण मनः स्थिति। आचार्य भिक्षु के अनुसार द्वेष की अपेक्षा राग अधिक बाधक है—

किसी आदमी ने बच्चे के मुँह पर एक चपत जमाया। लोगों ने उसे उलाहना दिया।

किसी आदमी ने बच्चे को लड्डू दिया। लोगों ने उसे सराहा। द्वेष पर दृष्टि सीधी जाती है, राग पर नहीं जाती। द्वेष की अपेक्षा राग को छोड़ना कठिन है। द्वेष मिटने पर भी राग रह जाता है। इसीलिए वीतराग कहा जाता है, वीतद्वेष नहीं[1]।

राग वस्तुओं का ही नहीं होता, विचारों का भी होता है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार—काम-राग, स्नेह-राग को थोड़े प्रयत्न से मिटाया जा सकता है, पर दृष्टि-राग—विचारों के राग को उच्छेद करना बड़े-बड़े पुरुषों के लिए भी कठिन है। आचार्य भिक्षु को एक ऐसे ही रागी को कहना पड़ा—चर्चा चोर की भाँति मत करो—

एक आदमी चर्चा करने आया। एक प्रश्न पूछा। वह पूरा हुआ ही नहीं कि दूसरा प्रश्न छेड़ दिया। दूसरे को छोड़ तीसरे को हाथ डाला। तब आचार्य भिक्षु ने कहा—चोर की भाँति चर्चा मत करो।

खेत का स्वामी भुट्टों को श्रेणीबद्ध काटता है। और चोर आ घुसे तो वह एक कहीं से काटता है और दूसरा कहीं से। तुम खेत के स्वामी की तरह क्रमशः चलते चलो। एक-एक प्रश्न को पूरा करते जाओ। चोर की भाँति मत चलो[2]।

: १९ : विराम

प्रारम्भ और विराम प्रत्येक वस्तु के दो पहलू हैं। मनुष्य की कोई कृति अनादि-अनन्त नहीं होती।

विश्व अनादि-अनन्त है। जिसकी आदि न हो और अन्त भी न हो,

१-दृष्टान्त ६
२-दृष्टान्त १३२

उसका मध्य कैसे हो[1] ? मनुष्य की कृति की आदि भी होती है और अन्त भी होता है। इसलिए उसका मध्य भी होता है।

'भिक्षु-विचार-दर्शन' यह एक मनुष्य की कृति है। इसकी आदि में एक महापुरुष के जीवन का परिचय है और इसके अन्त में एक महापुरुष की सफलता की कहानी है और इसके मध्य में सफलता के साधन-सूत्रों का विस्तार है। आदि का महत्त्व होता है और अन्त का उससे भी अधिक, पर ये दोनों संक्षिप्त होते हैं। लम्बाई-चौड़ाई मध्य में होती है। सफलता जीवन में होती है, पर मृत्यु सबसे बड़ी सफलता है। जिसकी मृत्यु उत्कर्ष में न हो, आनन्द की अनुभूति में न हो, उसके मध्य-जीवन की सफलता विफलता में परिणत हो जाती है।

आचार्य भिक्षु का सूत्र था—ज्योतिहीन जीवन भी श्रेय नहीं है और ज्योतिहीन मृत्यु भी श्रेय नहीं है। ज्योतिर्मय जीवन भी श्रेय है और ज्योतिर्मय मृत्यु भी श्रेय है।

वीर पत्नी विदुला ने अपने पुत्र से कहा—"बिछौने पर पड़े-पड़े सड़ने की अपेक्षा यदि तू एक क्षण भी अपने पराक्रम की ज्योति प्रकट करके मर जाएगा तो अच्छा होगा[2]।"

प्रमाद पूर्ण जीवन और मृत्यु में क्या अन्तर है ? आचार्य भिक्षु रात्रि-कालीन प्रवचन कर रहे थे। आसोजी नाम का श्रावक सामने बैठा-बैठा नींद ले रहा था। आपने कहा—

"आसोजी ! नींद लेते हो ? आसोजी बोले नहीं महाराज ! और फिर नींद शुरु कर दी। आपने फिर कहा—आसोजी ! नींद लेते हो ? वही उत्तर मिला—नहीं महाराज ! नींद में घूर्णित आदमी सच कब बोलता है ? अनेक बार चेताने पर भी आसोजी ने नकारात्मक उत्तर दिया। नींद फिर गहरी हुई

१-क-नैवाग्रं नावरं यस्य, तस्य मध्यं कुतो भवेत।

—माध्यमिक कारिका ११।२

ख-जस्स नत्थि पुरापच्छा, मज्झे तस्स कओ सिया।

—आचाराङ्ग १।४।४

ग-आदावन्ते च यन्नास्ति, वर्तमानेऽपि तत्तथा।

—माण्डूक्य कारिका २।६

२-मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो, न च धूमायितं चिरम्।

—महाभारत उद्योग पर्व १३२।१५

और आपने कहा—आसोजी! जीते हो? उत्तर मिला नहीं महाराज[1]!" इस उत्तर में कितनी सच्चाई है। आदमी प्रमादपूर्ण जीवन जी कर भी कब जीता है?

आचार्य भिक्षु अप्रमत्त जीवन जीते रहे और उनका मरण भी अप्रमत्त दशा में हुआ। मध्य-जीवन में भी वे अप्रमत्त रहे। इसीलिए उनका आदि, मध्य और अन्त तीनों ज्योतिर्मय हैं।

यह मेरी कृति उनके कुछेक ज्योतिकणों से आलोकित है। उनके प्रकाश-पुञ्ज जीवन और ज्योतिर्मय विचारों को शब्दों के संदर्भ में रखना सहज-सरल नहीं है। मैंने ऐसा यत्न करने का सोचा ही नहीं। परम श्रद्धेय आचार्य श्री तुलसी की अन्तः-प्रेरणा थी कि मैं महामना आचार्य भिक्षु के विचार-दर्शन पर कुछ लिखूँ। उनके शुभाशीर्वाद का ही यह सुफल है कि मैं आचार्य भिक्षु के विचार-दर्शन की एक झांकी प्रस्तुत कर सका और तेरापंथ द्विशताब्दी के पुण्य अवसर पर उसके प्रवर्तक को मैं अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सका।

